जैन भारती

वर्ष 49 • अंक 2 • फरवरी, 2001

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

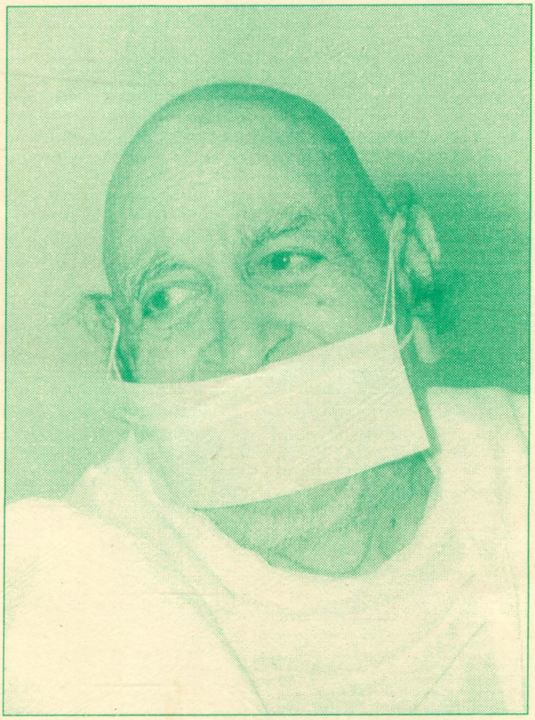

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

फरवरी, 2001 वर्ष 49 अंक 2 रु. 15.00

विमर्श

9
नन्दकिशोर आचार्य
आध्यात्मिक अर्थशास्त्र की प्रस्तावना

18
साध्वी शुभ्रयशा
हिंसा विरति-अविरति—आचारांग के परिप्रेक्ष्य से

24
हजारीप्रसाद द्विवेदी
भारत-धर्म

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

27
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
धम्मो दीवो पइट्ठाणं

32
आचार्यश्री तुलसी
अहिंसा-ब्रह्मचर्य : दैहिक विमर्श

38
साध्वी पीयूषप्रभा
भारतीय परंपरा में संन्यास

41
कहानी
जैनेन्द्र कुमार
पढ़ाई

46
कविता
गिरधर राठी की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
कितने युवजन

शीलन

49
इन्दु टीकेकर
सुख-दुख से इक परे परम पद

50
साध्वी विमलप्रज्ञा
युवा पीढ़ी : दशा-दिशा

52
दो बालकथाएं
साध्वी शारदाश्री
पुरुषार्थ और पुण्यहीन

55
जैन भारती पाठक पहेली

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कोलकाता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ मोक्ष है, परंतु समाज किसी में हठात् आत्मसाक्षात्कार की इच्छा उत्पन्न नहीं कर सकता। न कोई योगी बनने के लिए विवश किया जा सकता है, न ब्रह्मविवित्सुओं के लिए सार्वजनिक पाठशालाएं खोली जा सकती हैं। बलात् कोई धर्मात्मा भी नहीं बनाया जा सकता। परंतु समाज का संव्यूहन ऐसा हो सकता है कि सबके सामने आत्मज़ान और अभेददर्शन का आदर्श रहे, वैयक्तिक और सामूहिक जीवन का मूलमंत्र प्रतिस्पर्धा की जगह सहयोग हो और सबको अपनी सहज योग्यताओं के विकास का अवसर मिले। यदि ऐसी व्यवस्था हो तो धर्म को स्वतः प्रोत्साहन और मुमुक्षा को अनुकूल वातावरण मिल जाएगा। इसके साथ ही यह बात भी आप ही हो जाएगी कि जिन लोगों की धर्मबुद्धि अभी उद्बुद्ध नहीं है वह समाज की बहुत क्षति न कर सकें।

मनुष्य ने अपने को इतने टुकड़ों में बांट लिया है कि एकता को कहीं आश्रय नहीं मिलता। जितने टुकड़े हैं उतने ही पृथक हित हैं और इन हितों की सिद्धि पार्थक्य को उतना ही बढ़ाती है। ...यह बात श्रेयस्कर नहीं है। कुटुंब में व्यक्ति होते हैं, समाज में राष्ट्र इसी प्रकार रहें। कुछ बातों में अपना अलग जीवन भी बिताएं, परंतु सारे मानव-समाज की एकता सतत सामने रहनी चाहिए। युद्ध और कलह का युग समाप्त होना चाहिए; जो राष्ट्र दूसरे की ओर कुदृष्टि से देखे वह राष्ट्र-समुदाय से बहिष्कृत और दंडित होना चाहिए। न्याय और सत्य सामूहिक आचरण के आधार बनाए जा सकते हैं। मानव-संस्कृति एक और अविभाज्य है; योगी, कवि, कलाकार, विज्ञानी चाहे किसी देश के निवासी हों, मनुष्य-समाजमात्र की विभूति हैं। इसके साथ ही आर्थिक विभाजन भी समाप्त होना चाहिए।

—डॉ. संपूर्णनिन्द

'चिद्विलास' से

मोहाणुओं व पदार्थों से प्रभावित व्यक्ति जो कार्य करते हैं उनके लिए हम अहिंसा की कल्पना ही नहीं कर सकते। शक्ति के दबाव और बाहरी प्रभाव से रिक्त मानस में जो आत्मौपम्य का भाव जागता है—वह हृदय-परिवर्तन है। हृदय वही होता है, उसकी वृत्ति बदलती है, इसलिए उसे हृदय-परिवर्तन कहा जाता है। शक्ति और प्रभाव से दबकर जो हिंसा से बचा जाता है, वह हिंसा का प्रयोग भले न हो किंतु वह हृदय की पवित्रता नहीं है, इसलिए उसे हृदय-परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

अहिंसा का आचरण वही कर सकता है जिसका हृदय बदल जाए। अहिंसा का आचरण किया जा सकता है, किंतु कराया नहीं जा सकता। अहिंसक वही हो सकता है जो अपने को बाहरी वातावरण से सर्वथा अप्रभावित रख सके। बाहरी वातावरण से हमारा तात्पर्य शक्ति, मोहाणु और पदार्थ से है। इनमें से किसी एक से भी प्रभावित आत्मा हिंसा से नहीं बच सकती।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

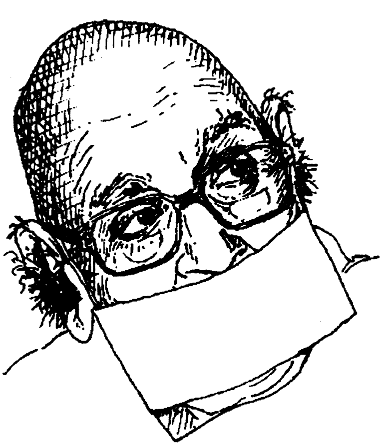

युवकों से मैं कहना चाहूंगा कि वे कम से कम तीन बातों को विशेष रूप से स्वीकार करें—ज्ञान-विकास, आचार-शुद्धि, विचार-स्थैर्य। ज्ञान जीवन का महत्त्वपूर्ण पहलू है। उसके बिना उन्नति की केवल रट लगाई जा सकती है, वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती। नौजवानों को अपना अधिक से अधिक समय ज्ञानार्जन, अध्ययन, चिंतन व मनन में लगाना चाहिए। वे अपने आचरण को सात्त्विक और उज्ज्वल बनाएं। उनका आचरण ऐसा हो कि दूसरों के सामने वह एक आदर्श के रूप में रखा जा सके। तीसरी बात विचारों की स्थिरता की है। आज कुछ सोचा, कल कुछ सोचा, इस तरह की वैचारिक अस्थिरता और चंचलता उचित नहीं। यह जीवन-स्तर को छिछला और निस्तेज बनाती है। आशा है, युवक इन तीन बातों पर ध्यान देते हुए जीवन को तदनुरूप बनाने का प्रयास करेंगे। युवकों में जोश है, साहस है, स्फूर्ति है, काम करने की अभिरुचि है। यह मैं जानता हूं पर वे इन बहुमूल्य शक्तियों का उपयोग निर्माण में करें, विध्वंस में नहीं।

——आचार्यश्री तुलसी

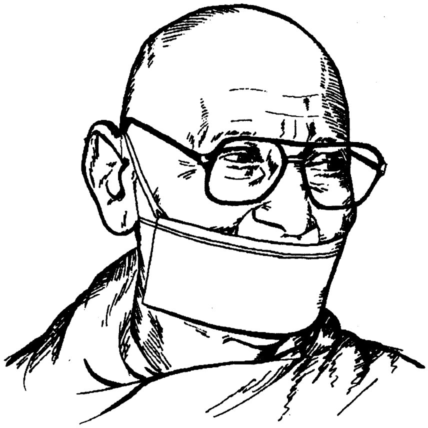

युवक शक्ति का प्रतीक है, यह निर्विवाद सत्य है। शक्ति होना एक बात है और उसका समीचीन उपयोग होना दूसरी बात है। संस्कृत साहित्य में कहा गया है कि शक्ति के दोनों प्रयोग हो सकते हैं—रक्षण और पीड़न। जिस युवक के सामने महान आदर्श होता है, उसकी शक्ति रक्षण या अहिंसा में लगती है। आदर्शहीन युवक की शक्ति पीड़न में लग जाती है।

इस दुनिया में हर वस्तु अपूर्ण है। विश्व का नियम ही ऐसा है कि उसमें किसी भी वस्तु को पूर्णता प्राप्त नहीं है और वह इसलिए नहीं है कि यदि कोई वस्तु पूर्ण होती तो वह दूसरों से निरपेक्ष हो जाती। निरपेक्ष वस्तु का टिक पाना स्वयं उसके लिए कठिन होता है और दूसरों के लिए भी कठिन होता है। इसीलिए हर वस्तु अपूर्ण है और अपूर्ण होने के कारण वह दूसरों से सापेक्ष है। यह सापेक्षता ही विभिन्न वस्तुओं में सामंजस्य बनाए हुए है—उन्हें एक साथ टिकाए हुए है।

युवकों को वृद्ध जनों की अपेक्षा है। वे उनसे निरपेक्ष होकर अपनी शक्ति का उतना और उतने सही ढंग से प्रयोग नहीं कर सकते, जितना कि सापेक्षता की स्थिति में कर सकते हैं।

वृद्ध व्यक्ति के पास अनुभव की निधि होती है। अनुभव और शक्ति का अंधा-पंगु जैसा योग होता है। अनुभव देखता है, पर चल नहीं सकता। शक्ति चलती है, पर देख नहीं सकती। अनुभव पंगु है, शक्ति अंधी है। यदि ये एक-दूसरे को सहारा दें तो फिर इष्ट दूर नहीं रहता।

युवक न रुकें, न ठिठकें ! वे चलें, पर उनकी गति के साथ अनुभव की लौ प्रज्वलित रहे, यही वांछनीय है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

कितने युवजन

क्या यह कल्पना की जा सकती है कि कोई समाज युवजन विहीन होकर अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है? किसी भी काल में समाज का अस्तित्व युवजनों पर ही आधारित रहा है और युवजन ही वह वर्ग है जो हर प्रकार की बरदाश्तगी के बावजूद अपार आनंद की अनुभूति कर सकता है। शैशव और किशोर अवस्था पार कर जब यौवन दस्तक देता है तो वह अवस्था शारीरिक शक्ति, मानसिक तेजस्विता, नैतिक बल और शौर्य से सराबोर होती है। यही वह समय होता है जब एक युवा को कर्तव्य और दायित्वबोध का अहसास होने लगता है। इन्हीं घड़ियों में समाज की अपेक्षाएं व्यग्रता के साथ बलवती होती हैं और यही वह काल है जब 'युवजन' कसौटी पर होता है।

आज का 'युवजन' काल की निर्मम कसौटी पर है। उसका नैतिक बल, उसकी शारीरिक क्षमता, उसकी मानसिक तेजस्विता, उसका शौर्य और वीर्य उसमें यथारूप विद्यमान है, पर तब भी लगता है कि कुछ खो गया है, कुछ ऐसा अधकचरा या अधूरा है जो समाज को रुग्ण बनाए हुए है। जब देश गुलाम था तो इसके कारण स्पष्ट थे, लेकिन तब देश की तरुण-शक्ति की अपार क्षमता पग-पग पर प्रकट होती रही थी। आज हम गुलाम नहीं हैं, स्वतंत्रता के उपभोग में आधी सदी पार कर गए हैं, पर रुग्ण क्या पहले से अधिक नहीं हैं? हम अपनी बुद्धि से ही समीक्षा करें। हमारे शास्त्र कहते हैं—पन्ना समिक्खए।

भारत की गुलामी समष्टिगत साधना के विलोपन का परिणाम थी। सही है कि कोई भी समाज बिना व्यक्ति के नहीं हो सकता, पर समग्र समाज की उन्नति के बिना व्यक्ति की उन्नति का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता। गुलामी के दिनों को याद करें तो पाएंगे कि निजी तौर पर अनेक व्यक्ति समर्थ रहे होंगे, पर साझा तौर पर समाज की अवस्था जर्जर-हाल ही थी। आजादी के बाद यह उम्मीद स्वाभाविक थी कि समाज जर्जरावस्था से मुक्त होगा, वह सशक्त और उन्नत होगा। पर आज हम देख रहे हैं कि व्यक्तिगत तौर पर अनेक जन सामर्थ्यवान-शक्तिमान हुए हैं, लेकिन सामाजिक स्तर पर विखंडन, विषमता और विग्रह के अजगर का मुंह कहीं अधिक बड़ा और भयावह रूप में खुलता जा रहा है। ऐसा क्यों हो रहा है?

लोकतंत्र की शक्ति सामूहिक जिम्मेदारी के सिद्धांत में निहित है। सत्ता और शक्ति के विकेंद्रीकरण में ही लोकतंत्र की सफलता और सुदृढ़ता सुनिश्चित हो सकती है। एक सार्वभौमिक गणराज्य के रूप में भारत की साख दुनिया की नजर में जो भी हो, अपने ही देश में हमारी जो अवस्था है—हमें अपने ही आईने में अपना चेहरा देख लेना चाहिए। तय करें कि हम कितने पानी में हैं। जिस सामाजिक वृत्ति का विकास स्वाधीनता के बाद हम में होना चाहिए था—वह नहीं हो सका और अब जो हालात बन रहे हैं वे सामाजिक और समष्टिगत विकास के कम तथा वैयक्तिक उन्नति के अधिक प्रतीत हो रहे हैं। उदारीकरण में सामाजिक वृत्ति का सशक्तिकरण नहीं हुआ करता, व्यक्ति के ही बलशाली होने की संभावना प्रबल होती है। पराधीनता का कारण सामाजिक वृत्ति का अभाव ही होता है—इसमें कोई संशय नहीं। तो क्या हम प्रच्छन्न पराधीनता की दशा की ओर अग्रसर हो रहे हैं? हम अपनी बुद्धि से समीक्षा करें—पन्ना समिक्खए।

जैसा कि कहा जा चुका है—युवजन ही वह वर्ग है जो बरदाश्तगी की हद तक जा सकता है; कहा जाना चाहिए कि अब तक उसने सब सहा, पर अब उसे अपना श्रेयस् तय करना ही चाहिए। हमारे शास्त्र कहते हैं—'जं छेयं तं समायरे'—जो श्रेयस्-कल्याणकारी हो, उसी का आचरण करो। श्रेयस् और कल्याणकारी क्या है? युवजनों के सम्मुख यही विचारणीय है।

आज का युवजन अबूझ भटकाव की अवस्था में है। एक तरफ भौतिक संसाधनों की चकाचौंध से विस्फारित है, पर उसी में मुग्ध है और अन्यत्र कुछ सूझ नहीं रहा है। दूसरी तरफ ऐसा युवजन वर्ग भी है जो कुंठित-विगलित है। उसके सामने कोई अवसर नहीं है, अपना भविष्य उसे लुंठित प्रतीत हो रहा है। आतंकवाद, हिंसा, अनाचार के रूप में जो विग्रह दिखाई दे रहा है—उसका निमित्त यही वह वर्ग है। दोनों ही वर्गों के युवजनों के लिए किसी श्रेयस् की जरूरत है। युवजनों की अजस्र शक्ति का समुचित उपयोग कैसे हो कि वह समष्टिगत विकास का, साझा शक्ति का आधार बन सके। इस दृष्टि से यह देखना जरूरी है कि क्या समाज उसे यथोचित आदर और श्रद्धा प्रदान कर रहा है? बिना श्रद्धा व आदर के दायित्व और कर्तव्य कभी जागृत नहीं हो सकता।

युवजनों का स्थान समाज में सर्वोपरि हो—जहां यह देखना नितांत आवश्यक है, वहीं युवजनों के लिए भी यह आवश्यक है कि वे समष्टिगत स्तर पर जो कुछ करें—उसे निष्काम कर्म मानते हुए करें। निष्काम भाव से जब भी कुछ किया जाता है तो वह एक सहज-क्रिया होती है। इसी सहज-क्रिया से अहं का विसर्जन संभव है। अहं के विसर्जन से चित्त की जैसी शुद्धि होती है उसी में वैयक्तिक-उन्नति सन्निहित है जो समष्टि के लिए भी हितकर सिद्ध हो सकती है। यही वह अवसर है जब युवजन एक नए अर्थ, नए रस और नए आनंद से समाज को आप्लावित कर सकता है।

जन्म और जीवन की सार्थकता भोग-विलास नहीं है। असंयम और अकर्मण्यता से किसी भी वर्ग का कल्याण नहीं हो सकता। युवजन का अर्थ ही संयम और कर्मशीलता है। पुरुषार्थहीन भाग्यवाद व्यक्ति को कायर और कूपमंडूक ही बनाता है, रचनात्मक संघर्ष की जिजीविषा उससे पैदा नहीं हो सकती। युवजन का स्वधर्म ही कर्मशीलता और संयम में निहित है। जब युवजन अपने स्वधर्म का निर्वाह करने लगेगा तो समाज में श्रद्धा और आदर का स्थान स्वतः प्राप्त हो जाएगा।

युवजनों के लिए आज ऐसे ही संकल्प का अवसर विद्यमान है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का दीक्षा दिवस (3 फरवरी) उनके अनुयायी युवा-दिवस के रूप में मनाते हैं। युवजन इस अवसर पर अपनी शक्ति, अपनी तेजस्विता और अपना नैतिक बल द्विगुणित करने का संकल्प ले सकते हैं और अपने जीवन को रूपांतरित कर सकते हैं—यही अभीष्ट है। इससे उनका व्यक्तिगत विकास होगा, साथ ही समग्र समाज की उन्नति के लिए आधारभूत संभावनाएं भी बलवती होंगी। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का जीवन साधुत्व का जीवन है, पर उसे कर्मरहित संन्यास का जीवन नहीं कहा जा सकता। उनकी तप-साधना से प्रसूत निष्पत्ति समाज के लिए, युवजनों के लिए दिशाबोधक हो सकती है। सवाल सिर्फ यह है कि वे निष्पत्तियां हमारे दैनंदिन जीवन का अंग कैसे बनें? युवजन ही इसका उत्तर दे सकते हैं। देश भर में फैले उनके अनुयायी छोटे-छोटे समूहों के रूप में कुछ ऐसे संकल्प ले लें कि जिनसे समाज में नैतिक-आध्यात्मिक अभ्युदय हो सके। ऐसे ही समूहों से व्यापक बदलाव की भूमि तैयार होगी—बशर्ते कि हमारे संकल्प सुदृढ़ हों, उनमें हमारी अटूट निष्ठा हो। कागजी प्रचार और आंकड़ों की कलाबाजी से मुक्त सुदृढ़ संकल्प और अटूट निष्ठा से कोई भी कार्यक्रम या उद्देश्य सफलीभूत हो सकता है। युवा-दिवस पर यही संकल्प युवजनों की असली पहचान बन सकता है।

—— शुभू पटवा

विमर्श

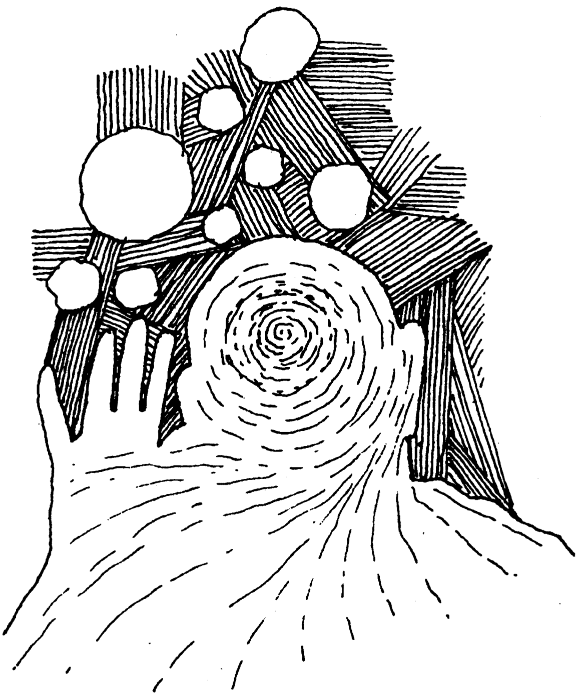

'जो संसार अधिकाधिक गंभीर शोकांत विपत्ति में भटक रहा है, उसकी मुक्ति किसी अन्य उपाय द्वारा नहीं हो सकती। मानवजाति के विस्तृत जगत की सब प्रमुख आध्यात्मिक सामग्रियों का मूल आधार मानवजाति की वास्तविक आत्मिक एकता की स्वीकृति है; एक ऐसी एकता, जिसका व्यक्ति अपनी प्रकृति की गहराई में, अन्य किसी भी अनुभूतिमूलक समाज की अपेक्षा अधिक अंग है। उन व्यावहारिक रोकों का, जो हमें एक–दूसरे से पृथक करती हैं, अस्तित्व उससे गहरे स्तर पर पहुंच कर समाप्त हो जाता है। यदि हम आध्यात्मिक वास्तविकता में केंद्रित हो जाएं, तो हम लोक और भय से, जो हमारे अराजक और प्रतियोगितात्मक समाज के आधार हैं, मुक्ति पा जाते हैं। इसे एक ऐसे मानवीय समाज के रूप में परिवर्तित करने के लिए, जिसमें हर व्यक्ति की भौतिक और मानसिक उन्नति की व्यवस्था हो, हमें अपनी चेतना का विस्तार करना होगा, अपनी चेतनता को बढ़ाना होगा, जीवन के उद्देश्य को पहचानना होगा और उसे अपने कामों में अपनाना होगा। चेतना का यह विस्तार सरल नहीं है। यह जान लेना सरल है कि वास्तिवकता हमें दिखाई नहीं पड़ रही है और अपने अंधेपन में जो कुछ हमें प्रतीत होता है, उसी को हम वास्तविकता समझ लेते हैं। परंतु अंधेपन का इलाज करने के लिए और सच्ची दृष्टि पाने के लिए आत्मशुद्धि की आवश्यकता है। हमें चेतना को लोभ और भय के विकार से, अहंकार के मोह से मुक्त करना होगा; और जब हम में पवित्रता और एकाग्रता आ जाती है, तब हम परिवर्तित हो जाते हैं। हम वही हो जाते हैं, जो कुछ हम देखते हैं और हमारी प्रकृति नई हो जाती है, हम संसार के स्वरूप और प्रयोजन को समझने लगते हैं, और इस संसार में उस रीति से जीवनयापन करने में समर्थ होते हैं, जिस रीति से परमात्मा चाहता है कि हम जीवन बिताएं।'

—डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

'...अर्थशास्त्र का अध्ययन करने वाले लोगों में अधिकांश संख्या उन लोगों की है जो आर्थिक जीवन को अपने ही स्वायत्त नियमों द्वारा संचालित मानते हैं और किसी प्रकार के मूल्यबोध के साथ उसका कोई अनिवार्य अंतस्संबंध नहीं मानते—बल्कि उनमें भी एक बड़ी संख्या तो यह मानने वालों की रही है कि आर्थिक जीवन और नैतिकता या मूल्यबोध तो अनिवार्यतः एक-दूसरे के विरोधी हैं।...'

जैन भारती के जनवरी, 2001 अंक में 'आध्यात्मिक अर्थशास्त्र की प्रस्तावना' आलेख में श्री नन्दकिशोर आचार्य अर्थशास्त्रियों की उपरोक्त अवधारणा से पनप रहे उपभोक्ता समाज के खतरों की ओर इंगित करते हुए स्पष्ट करते हैं कि आज की दुनिया का असली आर्थिक द्वंद्व स्वदेशी व सार्वभौमिक प्रौद्योगिकी तथा विकेंद्रीकरण व केंद्रीकरण के बीच है।

आचार्यजी के आलेख की इस दूसरी व आखिरी कड़ी में गांधी के सत्य और अहिंसा के प्रयोगों के आधार पर स्वदेशी, स्वावलंबी गांव और आर्थिक विकेंद्रीकरण के आपसी मेल से उत्पन्न प्रौद्योगिकी और इससे निर्मित आर्थिक संरचना का विश्लेषण करते हुए यह प्रस्थापना की गई है कि इस प्रौद्योगिकी और इससे प्रसूत अहिंसक उत्पादन संबंधों के कारण पूंजी का शोषणपरक केंद्रीकरण संभव नहीं रहता और लाभ के समान वितरण अर्थात् आर्थिक समानता का आदर्श भी स्वयमेव ही लागू हो जाता है। प्रस्तुत है आलेख की आखिरी किस्त—

आध्यात्मिक अर्थशास्त्र की प्रस्तावना

□ नन्दकिशोर आचार्य □

अहिंसा की कसौटी के आधार पर ही हम महात्मा गांधी के प्रौद्योगिकी संबंधी विचारों और स्वदेशी के आग्रह को समझ सकते हैं क्योंकि दोनों एक-दूसरे से संश्लिष्ट हैं। सबसे पहली बात तो यही है कि गांधी जी उस विशाल पैमाने के उत्पादन को ही विश्व-संकट का मूल कारण मानते हैं जिसके लिए मशीनीकरण की आवश्यकता बताई जाती है। विशाल पैमाने के उत्पादन का कारण लोगों का अपनी जरूरतों को अंधाधुंध बढ़ाते जाना है पर गांधी जी को इसमें कोई सार नहीं दिखाई देता।[1] इसलिए वह विशाल पैमाने के उत्पादन का विरोध करते हैं : मैं पक्के तौर पर अपनी राय जाहिर करना चाहूंगा कि विशाल पैमाने के उत्पादन का उन्माद विश्व-संकट के लिए उत्तरदाई है। एक क्षण के लिए अगर मान भी लें कि मशीनें मानवजाति की सभी आवश्यकताओं को पूरा कर सकती हैं तो भी इनका कार्य उत्पादन के विशिष्ट क्षेत्रों पर ही केंद्रित होगा और आपको वितरण का नियमन करने के लिए एक जटिल व्यवस्था अलग से करनी होगी। इसके विपरीत, जिस क्षेत्र में जिस वस्तु की आवश्यकता है, अगर वहीं उसका उत्पादन और वितरण दोनों किए जाएं तो इनका नियमन स्वयमेव हो जाता है और उसमें 'धोखेधड़ी की गुंजाइश कम रहती है तथा सट्टेबाजी की तो बिल्कुल ही नहीं।'[2] इसी प्रकार वह उन सभी मशीनों का विरोध करते हैं जो श्रमिकों को विस्थापित करके उन्हें बेरोजगार बनाती हैं और इस प्रकार उनके विनाश का कारण बनती हैं। मशीनीकरण दुधारी तलवार है जो जिसे रोजगार से हटाता है उसका तो विनाश करता ही है, जिसे रोजगार देता है उसके अस्तित्व और व्यक्तित्व को भी मशीनी बना देता है। इसलिए गांधी जी कहते हैं : मुझे इसमें कोई संशय नहीं है कि जहां मशीनयुग का ध्येय मनुष्य को मशीन में परिवर्तित कर देना है, वहीं मेरा ध्येय मशीन बने हुए मनुष्य को अपनी मूल स्थिति में पुनः प्रतिष्ठित कर देना है।[3]

सार्वभौमिक प्रौद्योगिकी वाले मशीनीकरण को गांधी जी व्यक्ति और समाज की आर्थिक-राजनीतिक आजादी के लिए भी घातक मानते हैं। भारत के संदर्भ में उनका तर्क है : भारत के सात लाख गांवों में फैले लाखों-करोड़ों लोग जिस प्रकार अपना भोजन स्वयं बनाते हैं, उसी प्रकार यदि अपने वस्त्र भी खुद ही तैयार करने लगें तो यह हर दृष्टि से बेहतर और अधिक सुरक्षित होगा। यदि हमारे गांवों का अपने जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं के उत्पादन पर नियंत्रण न रहा तो वे उस आजादी को कायम नहीं रख पाएंगे जिसका सुख वे अनादिकाल से उठा रहे हैं।[4] मशीनों के

विरोध के पीछे गांधी जी का एक प्रमुख तर्क यह भी था कि उनकी रामराज्य की कल्पना आर्थिक असमानता के रहते साकार नहीं हो सकती थी[5] जबकि उनका अनुभव मशीनों को इस आर्थिक असमानता का मूल कारण मानता था। दक्षिण अफ्रीका में प्रवास के समय से ही वह मशीनीकरण को सामान्य जनता के शोषण का एक माध्यम मानने लगे थे : उसी समय मेरे मन में इस विचार का उदय हुआ था कि लाखों-करोड़ों लोगों का दमन और शोषण करने के लिए मशीन एक ऐसा दैत्य है जिसका कोई जवाब नहीं है। यदि समाज में सभी लोगों को बराबरी का दर्जा दिया जाना है तो मानव-अर्थव्यवस्था में मशीन का कोई स्थान नहीं हो सकता। मेरा विश्वास है कि मशीन ने आदमी की हैसियत में कोई इजाफा नहीं किया है और जब तक हम इसे इसके उचित स्थान पर नहीं बिठाएंगे तब तक यह दुनिया की सेवा नहीं करेगी बल्कि उसे विघटित कर देगी।[6]

'मशीन को उसके उचित स्थान पर बिठाना'—यह है आधुनिक प्रौद्योगिकी के प्रति गांधी जी की नीति। इसीलिए वह उन सब मशीनों को स्वीकार करते हैं जो मनुष्य और प्रकृति के प्रति हिंसक या विनाशकारी नहीं होतीं और उसे किसी प्रौद्योगिकीय नियतिवाद का शिकार नहीं बनातीं। यह आश्चर्यजनक है कि गांधी जी ने प्रौद्योगिकीय नियतिवाद के आगमन और परिणामों को बहुत पहले समझ लिया था : उसके ऊपर अपनी ही इच्छा अथवा प्रतिभा सवार मालूम होते हैं। वह मानव-श्रम की विरोधी है। एक मशीन एक हजार नहीं तो कम-से-कम एक सौ लोगों को बेकार कर देती है जिससे बेरोजगारों और अल्प-रोजगारों की सेना बढ़ती ही जाती है। मशीन ऐसा इसलिए नहीं करती कि यह वांछनीय है, बल्कि इसलिए कि यही उसका नियम है।[7]

लेकिन तब गांधी जी किस प्रौद्योगिकी का समर्थन करते हैं क्योंकि हर आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था की अपनी प्रौद्योगिकी होना अपरिहार्य है? महात्मा गांधी इसके लिए स्वदेशी का रास्ता सुझाते हैं। स्वदेशी का अर्थ केवल देश में हुआ उत्पादन नहीं बल्कि अपने संसाधनों और अपने तरीकों से किया गया उत्पादन है। महात्मा गांधी के अनुसार 'स्वदेशी' प्रेम या अहिंसा का ही रूप है जिसका अर्थ है कि स्वदेशी प्रौद्योगिकी अहिंसा की प्रौद्योगिकी है। लेकिन इसे थोड़ा और स्पष्ट कर लेने की ज़रूरत है। स्वदेशी से गांधी जी का तात्पर्य भारतीय से भी नहीं है बल्कि एक ऐसी विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था से है जो आसपास के संसाधनों पर आधारित हो, जिसका अर्थ यह होता है कि उस उत्पादन व्यवस्था की प्रौद्योगिकी भी मूलतः आसपास के संसाधनों पर आधारित और उन से संबंधित हो तथा जिसे वहीं तैयार किया, सुधारा और विकसित किया जाता हो। चरखा गांधी जी के लिए इस स्वदेशी प्रौद्योगिकी का ही प्रतीक है। गांधी जी लिखते हैं : मैंने चरखे की तुलना सूर्य के साथ की है तथा गांव के अन्य शिल्पों को सौरमंडल के विभिन्न नक्षत्रों के समान माना है। सूर्य सभी नक्षत्रों को प्रकाश और ऊष्मा देता है और उन्हें जीवित रखता है। सूर्य के बिना नक्षत्रों का अस्तित्व रह ही नहीं सकता।[8] लेकिन चरखे के उद्योग का भी गांधी जी केंद्रीकरण नहीं चाहते क्योंकि यह स्वदेशी की वास्तविक भावना के अनुकूल नहीं होगा। इसलिए वह बिल्कुल स्पष्ट कर देते हैं : हम किसी एक स्थान पर बड़े पैमाने पर उत्पादन करके चरखे का सार्वभौमीकरण करना नहीं चाहते। हमारा आदर्श यह है कि जिस बस्ती में कताई करने वाले रहते हों वहीं चरखे और उसकी सहायक वस्तुओं का निर्माण होना चाहिए। इसी में चरखे का मूल्य निहित है। चरखे में यदि कोई खराबी आ जाए तो वह वहीं ठीक हो सकनी चाहिए और कताई करने वालों को इसके लिए प्रशिक्षित करना चाहिए।[9] स्पष्ट है कि यही बात अन्य उद्योगों से संबंधित प्रौद्योगिकी के बारे में लागू की जानी चाहिए। गांधी का तात्पर्य यह नहीं है कि स्वदेशी की भावना के अंतर्गत नए उपकरणों आदि का आविष्कार नहीं हो सकता। लेकिन अहिंसा की बुनियादी प्रतिज्ञा पर खरे उतरने पर ही उन्हें स्वीकार किया जा सकेगा। इसीलिए वह उदाहरण दे कर कहते हैं : कोई बेहतर किस्म का हल विकसित हो सके तो यह अच्छी बात है...मैं कुटीर उद्योगों की मशीनों में हर सुधार का स्वागत करता हूं[10]...मैं सबकी भलाई के लिए किए जाने वाली हर आविष्कार का स्वागत करूंगा। लेकिन एक आविष्कार और दूसरे आविष्कार में फ़र्क़ है। ...लोकोपयोगी सेवाओं के लिए इस्तेमाल की जाने वाली भारी मशीनें, जिनका मानव श्रम के रूप में कोई विकल्प संभव नहीं है, निश्चित रूप से अनिवार्य हैं, लेकिन उन पर राज्य का स्वामित्व होना चाहिए और उनका प्रयोग लोगों के हित में किया जाना चाहिए।[11]

इस योजना में कुछ बहुत ही आवश्यक हो गए बड़े उद्योगों को स्वीकृति है पर किसी भी समाज की अर्थव्यवस्था का मूल आधार स्वदेशी तकनीकी और संसाधनों पर आधारित ग्रामोद्योग ही हो सकते हैं। इसीलिए कुछ बड़े उद्योगों को स्वीकृति देते हुए भी गांधी जी यह स्पष्ट कर देते हैं कि उन्हें ग्रामोद्योगों के सहायक की भूमिका में ही रहना होगा। उन्हीं के शब्दों में : मेरी कल्पना के अनुसार गांव की दस्तकारियों के साथ-साथ बिजली, पोत-निर्माण, लोहे के

कारखाने, मशीन बनाने के कारखाने आदि भी रहेंगे। किंतु निर्भरता का क्रम उलट जाएगा। अभी तक उद्योगीकरण की योजनाएं इस प्रकार बनाई गई हैं कि वे गांवों और गांवों की दस्तकारियों को नष्ट कर दें। भारत के भावी राज्य में देश के उद्योग गांवों और उनकी दस्तकारियों के सहायक की भूमिका निभाएंगे।[12] यह है 'मशीन को उसके उचित स्थान पर बिठाना।'

स्पष्ट है कि यह स्वदेशी प्रौद्योगिकी ही वास्तविक आर्थिक विकेंद्रीकरण और इस प्रकार आर्थिक समानता का आधार भी हो सकती है तथा साथ ही वर्तमान केंद्रीकरण से उत्पन्न कई समस्याओं का समाधान करती हुई ग्रामोद्योगों के माध्यम से ग्रामीण जनता में आत्मविश्वास लौटा कर उसके भौतिक ही नहीं, नैतिक उत्कर्ष का माध्यम भी। महात्मा गांधी का यह मंतव्य बिल्कुल व्यावहारिक है : जब उत्पादन और उपभोग दोनों स्थानीकृत होते हैं तो उत्पादन में अंधाधुंध और किसी भी कीमत पर वृद्धि करने का लालच समाप्त हो जाता है। तब हमारे वर्तमान अर्थतंत्र की सभी अनंत कठिनाइयां और समस्याएं समाप्त हो जाएंगी...तब मुट्ठी भर लोगों के पास वस्तुओं के बेशुमार संचय और शेष लोगों को उसके बावजूद अभाव की स्थिति पैदा नहीं होगी।[13] और इसमें यह भी जोड़ सकते हैं कि गरीबी में पिसने के कारण हो रहा नैतिक अधःपतन रुक सकेगा और इस प्रकार सभी को आध्यात्मिक उन्नति के समान अवसर उपलब्ध हो सकेंगे।[14]

कई लोगों को यह लग सकता है कि आधुनिक प्रौद्योगिकी के बिना 'उत्पादन' की समस्या हल नहीं होगी और उसके बिना रोजगार की—क्योंकि 'उत्पादन' में वृद्धि ही सभी आर्थिक समस्याओं का वास्तविक समाधान है। लेकिन एक तो गांधी जी उत्पादन में अंधाधुंध वृद्धि को सभी समस्याओं का हल नहीं मानते। वह यह भी देखना जरूरी समझते हैं कि यह वृद्धि किस कीमत पर हो रही है। महात्मा गांधी यह मानते हैं कि विशाल पैमाने का उत्पादन स्वयं में कोई अच्छी चीज नहीं है क्योंकि वह उपभोक्ता की वास्तविक आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रखता। साथ ही इस विशाल पैमाने पर भी कहीं न कहीं अंकुश लगाना जरूरी होगा क्योंकि 'यदि सभी देश विशाल पैमाने के उत्पादन की प्रणाली को अपना लें तो उनके उत्पादों के खपाने लायक विशाल बाजार उपलब्ध नहीं होगा।[15] इसका मतलब होगा कि हमें कृत्रिम आवश्यकताओं की वृद्धि कर उस माल को खपाना होगा और बाजार पर एकाधिकार के लिए विभिन्न देशों में प्रत्यक्ष या परोक्ष संघर्ष चलेगा। इसीलिए गांधी जी इस उद्योगवाद को लेकर चेतावनी देते हैं : मुझे भय है कि उद्योगवाद मानव जाति के लिए अभिशाप सिद्ध होगा। एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण सदा के लिए नहीं चल सकता। उद्योगवाद पूर्णतया आपके शोषण करने के सामर्थ्य, विदेशी बाजारों की उपलब्धि और प्रतियोगियों के अभाव पर निर्भर करता है।[16] इसीलिए वह उम्मीद करते हैं कि 'अपनी तीक्ष्ण और वैज्ञानिक बुद्धि के कारण यूरोप वस्तुस्थिति को समझेगा और अपने कदम पीछे हटा कर नैतिक पतन की ओर ले जाने वाले उद्योगीकरण से बचने का कोई रास्ता ढूंढ़ निकालेगा। इसके लिए पिछले वक्त की निपट सादगी की ओर लौटना आवश्यक नहीं है। इसके लिए समाज का ऐसा पुनर्गठन करना होगा जिसमें ग्राम जीवन की भूमिका प्रमुख हो और जिसमें पाशविक और भौतिक बलों पर आध्यात्मिक बल का अंकुश हो।'[17]

इसके अलावा, गांधी जी जिस स्वदेशी प्रौद्योगिकी की बात करते हैं उसमें न केवल समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने योग्य उत्पादन करने की सामर्थ्य होगी बल्कि वह सभी लोगों को रोज़गार भी दे सकेगी। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री शुमाकर का एक विश्लेषण बताता है कि आधुनिक प्रौद्योगिकी पर आश्रित उत्पादन प्रणाली में 'कुल जनसंख्या के छठे भाग से भी कम जनसंख्या वास्तविक उत्पादन में लगी हुई है' और कुल 'सामाजिक समय' का लगभग साढ़े तीन प्रतिशत हिस्सा ही वास्तविक उत्पादन में खर्च होता है।[18] आधुनिक प्रौद्योगिकी के कारण ऐसा बड़ा वर्ग पैदा हो गया जिसका वास्तविक उत्पादन से कोई संबंध नहीं है। शुमाकर के अनुसार अगर प्रौद्योगिकी को कुछ कम आधुनिक बना दिया जाय तो ऐसे लोगों की कोई जरूरत नहीं रहती। कार्ल मार्क्स की इस बात से भी शुमाकर की स्थापना का ही समर्थन होता है : वे उत्पादन को उपयोगी वस्तुओं तक ही सीमित रखना चाहते हैं, लेकिन यह भूल जाते हैं कि बहुत अधिक संख्या में उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन का नतीजा अनुपयोगी लोगों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि ही होता है।[19] स्पष्ट है कि यदि हमारे 'सामाजिक समय' का बड़ा हिस्सा या हमारी जनसंख्या का अनुत्पादक कामों में लगा हुआ बड़ा हिस्सा उत्पादन में लगा दिया जाय तो समाज में न केवल उत्पादन का अभाव नहीं होगा ब्लिक बेरोजगारी भी नहीं रहेगी।

यह लगभग दो-ढाई सौ वर्षों पहले की ही बात है जब स्वदेशी प्रौद्योगिकी और विकेंद्रीकृत उत्पादन प्रणाली से उत्पादित भारतीय कपड़ा न केवल भारत की आवश्यकताएं पूरी करता था बल्कि विदेशी बाजार में भी उसकी बहुत खपत थी। 'अठारहवीं शती में इंग्लैंड का इतिहास' का लेखक लैकी लिखता है कि 17वीं शताब्दी के अंत में बहुत बड़ी तादाद में

हिंदुस्तान की सस्ती और नफीस मलमल और छींट इंग्लिस्तान में आती थी और इतनी पसंद की जाती थी कि इंग्लैंड के कपड़ा बनाने वालों को उससे बड़ा खतरा पैदा हो गया था।[20] अठारहवीं शताब्दी तक विदेशी व्यापारियों के यहां आने का प्रमुख उद्देश्य अपना माल यहां बेचने से ज्यादा भारतीय माल अपने यहां ले जाकर बेचना होता था। अंग्रेजी शासन यहां स्थापित होने के बाद प्रारंभ में अंग्रेजों का विश्वास था कि वे अपनी मशीनों से सस्ते दामों में तैयार कपड़े का व्यापार बढ़ा सकेंगे, लेकिन भारतीय कपड़ा तकनीकी के सम्मुख उनकी यह आशा कपोल कल्पना ही सिद्ध हुई और जैसा कि पंडित सुंदरलाल ने बताया है : मशीनों और भाप की मदद से भी इंग्लिस्तान के कारीगर भारत के कारीगरों के मुकाबले में सस्ता या अच्छा कपड़ा नहीं बुन सकते थे और यदि अनसुने महसूलों, अन्यायों, बहिष्कारों और असंख्य राजनीतिक हथकंडों द्वारा भारत के उद्योग-धंधों को नष्ट न किया गया होता तो भाप की ताकत के लिए इंग्लिस्तान के कपड़े के कारखानों को चला सकना सर्वथा असंभव था।' भारतीय व्यापारियों और कारीगरों के सामने ब्रिटिश राज्य द्वारा जो दिक्कतें पैदा की गईं, उनकी चर्चा करते हुए लैकी लिखता है कि जब भारी महसूल लगाने के बाद भी भारतीय कपड़े इंग्लिस्तान में बिकते रहे, तब स्थिति यह हुई कि सन् 1766 ई. में इंग्लिस्तान में यदि कोई अंग्रेज महिला हिंदुस्तान के बने कपड़े की पोशाक पहनती थी तो उसे जुर्माना देना होता था। इतिहासकार विल्सन ने भारत में कपड़ा उद्योग को नष्ट करने के बारे में लिखा है, 'गवाहियों में यह बयान किया गया था कि 1813 ई. तक हिंदुस्तान के सूती और रेशमी कपड़े इंग्लिस्तान के बाजारों में वहां के बने हुए कपड़ों के मुकाबले से पचास से साठ फीसदी तक कम दाम पर फायदे के साथ बिक सकते थे। इसलिए यह आवश्यक हो गया कि हिंदुस्तानी माल पर सत्तर और अस्सी फीसदी महसूल लगा कर या उसका इंग्लिस्तान में आना बिल्कुल बंद करके इंग्लिस्तान के व्यापार की रक्षा की जाय। यदि ऐसा न होता, यदि इस तरह की आज्ञाएं न दी गई होतीं और भारत के माल पर इस तरह के भारी निषेधकारी महसूल नहीं लगाए गए होते तो पेजली और मैंचस्टर के पुतलीघर खुलते ही बंद हो गए होते और फिर भाप की ताकत से भी दुबारा न चलाए जा सकते। इन पुतलीघरों का निर्माण भारतीय कारीगरों का बलिदान कर किया गया।'[21] मैं फिलहाल केवल इस बात का ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं कि पश्चिम की कपड़ा तकनीक ने हमारी स्वदेशी प्रौद्योगिकी के सम्मुख उत्पादन की मात्रा या गुणवत्ता की दृष्टि से कोई चुनौती प्रस्तुत नहीं की थी। अभी भी भारत के विभिन्न प्रदेशों में स्वदेशी तरीकों से बनाया गया बहुत सारा कपड़ा गुणवत्ता की दृष्टि से आधुनिक प्रौद्योगिकी के उत्पादन के सम्मुख बेहतर ही ठहरता है। मात्रा यदि कम है तो इसका कारण उस प्रौद्योगिकी के प्रति हमारी उदासीनता और आधुनिक प्रौद्योगिकी के प्रति पक्षपात है।

यदि हम गांधी जी की भाषा में 'ग्रामवासी रूपी सजीव मशीनों[22] को पूरा काम दे सकें तो उत्पादन के अभाव की शिकायत नहीं रह सकती। गरीबी को विशाल पैमाने के उत्पादन से नहीं बल्कि गरीबों को उत्पादन कार्यों में लगाकर ही हटाया जा सकता है। महात्मा गांधी लिखते हैं : मेरे विचार में भारत, और भारत ही क्यों सारी दुनिया, का आर्थिक गठन ऐसा होना चाहिए कि उसमें किसी को रोटी-कपड़े की तंगी न रहे। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त काम उपलब्ध होना चाहिए। यह आदर्श सर्वत्र तभी प्राप्त किया जा सकता है जब जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन आम जनता के नियंत्रण में हों।[23] अपने आसपास के संसाधन और उन्हीं को ध्यान में रख कर स्थानीय स्तर पर विकसित तकनीक के माध्यम से ही उत्पादन के साधनों पर आम लोगों का वास्तविक नियंत्रण रह सकता है। शुमाकर, रोबिन क्लार्क, ममफोर्ड, इवान इलिच और एरिक फ्रॉम जैसे विचारकों, वैज्ञानिकों और अर्थशास्त्रियों ने 'मध्यवर्ती' प्रौद्योगिकी या 'समुचित प्रौद्योगिकी' की बात की है। कई लोगों का ध्यान छोटी मशीनों की ओर गया है और महात्मा गांधी को इन सबने अपने प्रेरणा-स्रोत के रूप में देखा है। लेकिन इन प्रयासों में गांधी जी की इस बात को निरंतर ध्यान में रखना होगा कि किसी एक स्थान पर इनका उत्पादन करके इनका 'सार्वभौमीकरण' नहीं करना चाहिए। जहां इन से काम लिया जाय वहीं इनका उत्पादन भी होना चाहिए और यदि कोई खराबी आ जाय तो वह वहीं ठीक हो सकनी चाहिए जिसके लिए ग्रामोद्योगों में लगे लोगों को प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। कह सकते हैं कि गांधी जी किसी अंतरराष्ट्रीय या राष्ट्रीय स्तर की प्रौद्योगिकी की नहीं बल्कि एक स्थानीकृत अर्थात् स्वदेशी प्रौद्योगिकी की बात कर रहे हैं। यही उत्पादन के साधनों का वास्तविक विकेंद्रीकरण है। इसलिए गांधी जी जब 'स्वदेशी' का आग्रह करते हैं तो वह केवल 'भारत में बने हुए माल' का आग्रह नहीं है क्योंकि भारत आधुनिक प्रौद्योगिकी से विशाल पैमाने के उत्पादन वाली पद्धति को अपना कर उद्योगवादी देशों की पांत में खड़ा हो सकता है बल्कि फिलहाल उसकी मंशा और दिशा भी यही है।

गांधी जी के लिए स्वदेशी का तात्पर्य है 'आज की समूची उत्पादन पद्धति को ही बदल डालना और एक ऐसी पद्धति का विकास करना जिसमें एक गांव या एक-सी कुदरती स्थिति वाला एक प्रदेश आर्थिक व्यवहार का लगभग स्वावलंबी घटक बन जाय, हर कुटुंब के पास उत्पादन के साधन उसके अपने हों और चीजों का उत्पादन हमारी अपनी और हमारे पड़ोस की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए होता हो।'[24] ऐसा नहीं है कि इस व्यवस्था में बाहर से या दूर से कोई आर्थिक संबंध रहेगा ही नहीं। वह रहेगा, लेकिन 'जो चीजें हमारे पड़ोस में बन ही नहीं सकती हों या बहुत अधिक श्रम से या न करने योग्य श्रम से ही बन सकती हों उन्हीं का आयात होगा; और हमारे प्रदेश में बनने वाली चीजों से सारे पड़ोस की जरूरतें पूरी होने के बाद जो चीजें बचेंगी उन्हीं का निर्यात होगा।'[25]

स्पष्ट है कि 'स्वदेशी', स्वावलंबी गांव और आर्थिक विकेंद्रीकरण कोई अलग-अलग अवधारणाएं नहीं हैं। वे सब आपस में मिली हैं पर उनका प्रौद्योगिकीय आधार 'स्वदेशी' प्रौद्योगिकी और उत्पादन की धारणा है। लेकिन इस प्रौद्योगिकी के आधार पर जो आर्थिक संरचना निर्मित होती है वह लाभकेंद्रित नहीं बल्कि सेवाकेंद्रित है। यह संरचना ऐसी होगी जो आर्थिक रूप से जीवनक्षम और व्यावहारिक होने के साथ-साथ पारस्परिक प्रेम और अहिंसा के सिद्धांत से भी अनुप्राणित होगी। गांधी जी के शब्दों में, 'स्वदेशी ही वह एकमात्र सिद्धांत है जो विनम्रता और प्रेम के नियम के अनुरूप है।'[26] 'स्वदेशी' से प्रेरित 'स्वावलंबी ग्राम' इसी कारण न तो किसी प्रकार की मुनाफाखोरी, शोषण या अनैतिक व्यापार में स्वयं रुचि लेते हैं और न अपने को उनका शिकार होने देते हैं। कह सकते हैं कि स्वदेशी न केवल अपने से जुड़े लोगों में प्रेम और नैतिक गुणों एवं स्वेच्छापूर्वक कम उपभोग की भावना का विकास करता है बल्कि प्रकारांतर से आधुनिक प्रौद्योगिकी से प्रसूत अंतरराष्ट्रीय आर्थिक साम्राज्यवाद के सभी ज्ञात-अज्ञात रूपों के बरक्स एक सत्याग्रह हो जाता है।

अर्थशास्त्र का संबंध केवल उत्पादन की पद्धति अर्थात् प्रौद्योगिकी से ही नहीं, बल्कि उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व और उत्पादन से होने वाले लाभ के वितरण से भी है। इस संदर्भ में कार्ल मार्क्स की यह स्थापना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि उत्पादन पद्धति के आधार पर ही उत्पादन संबंधों का निर्धारण होता है। इसका अर्थ यह है कि प्रौद्योगिकी स्वयं ही अपने स्वामित्व और अपने उत्पादन से होने वाले लाभ के वितरण के बारे में दिशा-संकेत दे देती है। जब हम विशाल पैमाने के उत्पादन की ओर उन्मुख केंद्रीकरण के स्वभाव वाली आधुनिक प्रौद्योगिकी को स्वीकार करते हैं तो स्वाभाविक ही स्वामित्व का रूप भी केंद्रीकृत हो जाता है फिर चाहे उसके केंद्रीकरण का स्वरूप निजी स्वामित्व अर्थात् पूंजीवादी प्रकार का हो या राजकीय स्वामित्व अर्थात् समाजवादी प्रकार का। इस केंद्रीकृत स्वामित्व के कारण लाभ के वितरण के सवाल पर स्वामी और श्रमिक में संघर्ष बना रहता है—एक रूप में यह संघर्ष पूंजीपति के विरुद्ध होता है तो दूसरे रूप में राज्य के विरुद्ध अर्थात् पूंजी और श्रम के संबंध संघर्षपूर्ण बने रहते हैं।

लेकिन महात्मा गांधी जिस प्रौद्योगिकी का आग्रह करते हैं उसमें उत्पादन के साधनों पर किसी तरह के केंद्रीकृत स्वामित्व की संभावना ही नहीं रहती जिसका अर्थ यह है कि यह प्रौद्योगिकी शोषण का माध्यम बन ही नहीं सकती। स्वदेशी की संकल्पना से प्रेरित इस प्रौद्योगिकी द्वारा जो उत्पादन होता है, न तो उसके लिए बड़ी पूंजी की जरूरत है, न बड़ी संख्या में श्रमिकों को भाड़े पर नियोजित करने की; और न ही उसे उपभोक्ता तक पहुंचाने के लिए किसी मध्यवर्ती संस्था की खास जरूरत रहती है। इस प्रौद्योगिकी में हर व्यक्ति या कुटुंब ही श्रमिक होता है और वही स्वामी भी। कहीं-कहीं कुछ श्रमिकों को नियोजित करने की जरूरत शायद पड़े भी लेकिन इस प्रौद्योगिकी की मूल प्रकृति स्वामी और श्रमिक के भेद को ही समाप्त करने की ओर उन्मुख रहती है। किसी मध्यवर्ती विपणन संस्थान की भी इसमें बहुत कम जरूरत पड़ती है क्योंकि अधिकांशतः उत्पादक और उपभोक्ता के बीच सीधा संबंध होता है और उत्पादक स्वयं ही विक्रेता की भूमिका में आ जाता है। कह सकते हैं कि स्वामी, श्रमिक और विक्रेता तीनों एक ही हो जाते हैं। उत्पादन के स्थानीकृत होने और उपभोक्ता के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध होने के कारण न केवल कीमतों पर बल्कि उत्पादन की गुणवत्ता पर भी स्थानीय समाज का नियंत्रण बना रहता है।

इस प्रौद्योगिकी और इससे प्रसूत अहिंसक उत्पादन-संबंधों के कारण पूंजी का शोषणपरक केंद्रीकरण संभव नहीं रहता और लाभ के समान वितरण अर्थात् आर्थिक समानता का आदर्श भी स्वयमेव ही लागू हो जाता है। कहा जा सकता है कि शायद पूर्ण आर्थिक समानता न भी हो, पर संभव आर्थिक समानता के आदर्श को तो प्राप्त किया ही जा सकता है। ऐसी ही समाज-व्यवस्था को वास्तविक न्यायपूर्ण-सामाजिक-व्यवस्था कहा जाना चाहिए जिसकी आर्थिक-प्रक्रिया में शोषण की गुंजाइश ही न रहे। सत्य और अहिंसा केवल वैयक्तिक गुण नहीं माने जाने चाहिए बल्कि उनका

सामाजिक-आर्थिक प्रतिफलन उद्देश्यों में ही नहीं, प्रक्रिया में भी अर्थात् साध्य के रूप में ही नहीं साधन के रूपों में भी दिखाई देना चाहिए। गांधी जी स्वदेशी पर आश्रित जिस ग्राम;केंद्रित अर्थ-व्यवस्था की बात करते हैं उसे वह इसी तरह के अहिंसक कामधंधों के आधार पर संगठित मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में : जब मैं कहता हूं कि एक समय ऐसा था जब समाज शोषण पर नहीं बल्कि न्याय पर आधारित था तो मेरे कहने का अर्थ यह होता है कि तब सत्य और अहिंसा व्यक्तियों के ही गुण नहीं थे बल्कि पूरा समुदाय उन पर आचरण करता था। मेरी दृष्टि में, उस गुण का कोई मूल्य नहीं रह जाता जो केवल व्यक्तियों तक ही सीमित हो या उस पर आचरण करना केवल व्यक्तियों के लिए ही संभव हो।[27] वैयक्तिक गुण तो केंद्रीकरण की व्यवस्था में भी कुछ लोगों में रह सकते हैं पर अपनी सारी सदाशयता के बावजूद वह हिंसक व्यवस्था का ही अंग बना रहता है, जब तक वह उस व्यवस्था को ही बदलने के प्रयास में शामिल नहीं होता। इसी बात को स्पष्ट करते हुए गांधी जी कहते हैं : बड़े पैमाने की मशीनें एक आदमी के हाथ में धन का केंद्रीकरण कर देती हैं जो बाकी लोगों पर हुकुम चलाता है और वे उसकी गुलामी करते हैं। हो सकता है कि वह अपने कारीगरों के लिए आदर्श परिस्थिति पैदा करने का प्रयास करे, पर तब भी शोषण तो वह करता ही है जो हिंसा का ही एक रूप है।[28]

लेकिन हम जानते हैं कि 'वर्तमान समाज की आर्थिक संरचना का केंद्रीय आधार आधुनिक प्रौद्योगिकी है, अतः वर्तमान उद्योगों के स्वामित्व के सवाल को कैसे तय किया जाय ताकि श्रम और पूंजी का हिंसात्मक संबंध न रहे, यह समस्या तो बनी रहती है। साथ ही, स्वयं गांधी जी यह मानते हैं कि ग्रामोद्योगों वाली आर्थिक व्यवस्था में भी उनकी सहायता करने के लिए कुछ भारी उद्योगों की भी आवश्यकता पड़ेगी ही, अतः उनके स्वामित्व और लाभ के समतामूलक वितरण का सवाल अहिंसा की दृष्टि से हल करने पर भी विचार जरूरी होगा। क्या गांधी जी इस बारे में कुछ सुझाते हैं?

दरअसल, इन दोनों ही समस्याओं और जमींदारी व्यवस्था के कारण भूमि के समान वितरण की समस्या पर भी गांधी जी निरंतर विचार करते रहे हैं। इसीलिए जब वह संपत्ति के अपरिग्रह या संपूर्ण आर्थिक क्रियाशीलता को यज्ञ के भाव के साथ करने का आग्रह करते हैं तो इन समस्याओं और उनके हल के धार्मिक आयाम की ओर ही संकेत कर रहे होते हैं। गांधी जी के लिए यज्ञ का अर्थ है : कोई ऐसा कृत्य जो फल की कामना किए वगैर दूसरों के कल्याण के लिए किया गया हो; यह 'कृत्य' लौकिक या आध्यात्मिक किसी भी प्रकार का हो सकता है...इसके अलावा मौलिक त्याग कोई ऐसा कृत्य होना चाहिए जो अधिकतम व्यापक क्षेत्र के अधिकतम जीवों का अधिकतम कल्याण करने वाला हो और जिसे अधिकतम स्त्री-पुरुष कम-से-कम कष्ट उठाकर कर सकते हों। तदनुसार किसी तथाकथित ऊंचे उद्देश्य के लिए किया गया कृत्य यदि एक जीव को भी हानि पहुंचाने के उद्देश्य से किया गया हो तो वह यज्ञ नहीं कहला सकता, महायज्ञ तो और भी नहीं। गीता हमें उपदेश देती है तथा अनुभव इस बात को प्रमाणित करता है कि जो कर्म यज्ञ की कोटि में नहीं आता, वह केवल बंधन को बढ़ाने वाला होता है।[29] ईशोपनिषद् के 'ईशावास्यमिदम् सर्वम्' मंत्र की व्याख्या करते हुए भी गांधी जी का निष्कर्ष था कि सभी कुछ को ईश्वर को समर्पित करने के बाद अपने लिए आवश्यकता से अधिक कुछ न लेने का निर्देश ही इस मंत्र में दिया गया है और ईश्वर के लिए तो गांधी जी की स्पष्ट धारणा है : ईश्वर को प्राप्त करने का एक ही उपाय है कि उसे उसकी सृष्टि में देखा और उसके साथ एकाकार हुआ जाय।[30] इसलिए सभी कर्मों का फल ईश्वर को अर्पित करने का अर्थ हो जाता है उन्हें समस्त प्राणियों को अर्पित करना।

यज्ञ की अवधारणा और 'ईशावास्यमिदम् सर्वम्' से गांधी जी स्वामित्व के सवाल का एक ऐसा समाधान प्रस्तुत करते हैं जो केवल वैयक्तिक सदाशयता पर निर्भर नहीं रहता बल्कि एक संस्थागत परिवर्तन बन जाता है। इसे गांधी जी ने 'न्यासिता' कहा है। न्यासिता एक प्रकार का 'अनासक्त' स्वामित्व है। जब सभी कार्य करते हुए उसके फलों का स्वामी हम अन्य को समझ लेते हैं तो हम एक प्रकार के न्यासी हो जाते हैं। महात्मा गांधी की मान्यता है कि वर्तमान में आर्थिक साधनों पर स्वामित्व रखने वाले पूंजीपतियों और भूमि मालिकों को एक न्यासी की तरह व्यवहार करना चाहिए और अपनी पूंजी को एक न्यास में परिवर्तित कर देना चाहिए। गांधी जी मानते हैं कि केवल न्यासिता के द्वारा ही आर्थिक समानता कायम हो सकती है। वह पूंजीपतियों का आह्वान करते हैं : मैं उन व्यक्तियों को, जो आज अपने आपको मालिक समझ रहे हैं, न्यासी के रूप में काम करने के लिए आमंत्रित कर रहा हूं अर्थात् यह आग्रह कर रहा हूं कि वे स्वयं को अपने अधिकार की बदौलत मालिक न समझें, बल्कि उनके अधिकार की बदौलत मालिक समझें जिनका उन्होंने शोषण किया है।[31] गांधी जी के इस कथन में यह ध्वनि भी निकलती है कि न्यासिता एक प्रकार से मालिकों द्वारा शोषण से उत्पन्न पाप का प्रायश्चित्त भी है। इस प्रकार गांधी जी मालिकों के नैतिक बोध को जागृत करने का प्रयास करते हैं।

उनके अनुसार जैसे कोई धर्म के अनुकूल आचरण नहीं करता है तो यह धर्म की नहीं, संदर्भित व्यक्ति की कमजोरी है, उसी प्रकार यदि धनवान लोग न्यासिता के सिद्धांत के अनुसार काम नहीं करते तो इस से सिद्धांत की नहीं, धनवानों की दुर्बलता सिद्ध होती है।[32]

मालिकों के हृदय-परिवर्तन के प्रयास करने को ही अहिंसा का एक मंत्र रूप मान लेने के कारण यह भ्रम उत्पन्न होता है कि न्यासिता का सिद्धांत एक आदर्श कल्पना अवश्य है, या उसे व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकता क्योंकि बहुत कम उद्योगपति ऐसे होंगे जो इस सिद्धांत को वास्तव में स्वीकार करने को प्रस्तुत होंगे। लेकिन हम अक्सर यह भूल जाते हैं कि समझाना-बुझाना या शिक्षण एकमात्र अहिंसक उपाय नहीं है। न्यासिता के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने के लिए महात्मा गांधी त्रिआयामी योजना प्रस्तावित करते हैं। एक ओर, वह पूंजीपतियों से आग्रह करते ही हैं कि वे न्यासिता के सिद्धांत को स्वीकार कर अपने पाप का प्रायश्चित्त करें, लेकिन साथ ही वह श्रमिकों और राज्य को भी अपनी भूमिका निबाहने का निर्देश देते हैं। शिक्षण ही नहीं, अहिंसक असहयोग और सविनय अवज्ञा भी गांधी जी की दृष्टि में दो सही और अचूक उपाय हैं।[33] गांधी जी श्रमिकों से अनुरोध करते हैं कि यदि मालिक उनके अभिभावकों की तरह व्यवहार करने को तैयार न हों तो उन्हें मालिकों के प्रति असहयोग और सविनय अवज्ञा का सहारा लेना चाहिए। जिन उपायों को ब्रिटिश साम्राज्य जैसी शक्ति के विरुद्ध काम में लिया जा सकता है, उन्हें पूंजीपतियों के शोषण और अन्याय को मिटाने और आर्थिक समानता लाने के लिए क्यों नहीं काम में लिया जा सकता? यह सिद्धांत की नहीं, उसे व्यवहार में लाने का प्रयत्न करने वाले कार्यकर्ताओं की ही कमी माननी चाहिए कि उन्होंने मात्र लोक-शिक्षण को तो महत्त्व दिया पर अहिंसक असहयोग और सविनय अवज्ञा को नहीं।

गांधी जी श्रमिकों के साथ-साथ राज्य से भी इस संबंध में कुछ सक्रियता की आशा रखते हैं। यद्यपि वह जहां तक संभव हो पूंजीपतियों द्वारा स्वेच्छापूर्वक न्यासिता पर अमल को ही वरीयता देते हैं, लेकिन पूंजीपतियों द्वारा किसी हृदय-परिवर्तन का प्रमाण न मिलने पर वह राज्य से भी यह आग्रह करते हैं कि वह कानून द्वारा न्यासिता के कार्यक्रम को लागू करे। इस संदर्भ में गांधी जी के एक लंबे उद्धरण को देखना बहुत उपयोगी होगा : मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी अगर लोग न्यासी के रूप में आचरण करें, लेकिन यदि वह ऐसा नहीं कर पाते तो हमें राज्य के जरिये न्यूनतम हिंसा का प्रयोग करते हुए उन्हें उनकी संपत्ति से वंचित करना होगा। इसलिए मैंने गोलमेज सम्मेलन में कहा था कि प्रत्येक न्यस्त हित की जांच-पड़ताल की जानी चाहिए और जहां आवश्यक हो, राज्यसात्करण के आदेश दिए जाएं। जिनकी संपत्ति का राज्यसात्करण करना हो, उन्हें मुआवजा दिया जाए या नहीं, इसका निर्णय हर मामले की तफसील पर गौर करके किया जाए। मैं व्यक्तिगत रूप से इस बात को तरजीह दूंगा कि राज्य के हाथों में शक्ति के केंद्रीकरण के बजाय न्यासिता की भावना का विस्तार किया जाए क्योंकि, मेरी सम्मति में, निजी स्वामित्व की हिंसा राज्य की हिंसा से कम हानिकारक है। लेकिन अपरिहार्य हो तो मैं न्यूनतम राज्य-स्वामित्व का समर्थन करूंगा।[34]

इसके अलावा यह भी स्मरणीय है कि राज्य के समर्थन के बिना किसी भी तरह का उद्योगवाद और पूंजीवाद पनप ही नहीं सकता है। आधुनिक उद्योगों के लिए कई तरह की राजकीय सुविधाओं और सार्वजनिक संसाधनों की आवश्यकता होती है जिन्हें राज्य द्वारा निजी उद्योगों को मुहैय्या करवाया जाता है। इसी प्रकार सभी उद्योग पर्यावरण को हानि पहुंचाते हैं जो उनकी निजी संपत्ति नहीं है और राज्य की अनुमति के बिना उन्हें ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं है। यदि राज्य हिंसा का न्यूनतम भी प्रयोग न करना चाहे और केवल असहयोग करे तब भी पूंजीपतियों को न्यासिता के सिद्धांत को मानने के लिए प्रस्तुत होना होगा। और इसे हिंसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि कोई भी हिंसक व्यक्ति या संस्था किसी दूसरे व्यक्ति या संस्था से उसके ही विरुद्ध की जाने वाली हिंसा में सहयोग लेने की नैतिक अधिकारी नहीं है। वास्तविक लोकतांत्रिक राज्य सत्याग्रही भी होता है, इसलिए कम-से-कम पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ सत्याग्रह तो उसका नैतिक कर्तव्य है, हिंसा नहीं।

इसके अतिरिक्त महात्मा गांधी भी यह तो मानते ही हैं कि लौकिक जीवन में पूर्ण अहिंसा का पालन संभव नहीं है और कभी-कभी वह रक्षात्मक हिंसा को भी मान्यता देते हैं, इसलिए एक लोकतांत्रिक राज्य द्वारा न्यासिता के सिद्धांत को लागू करने के लिए की गई इस कानूनी हिंसा को क्षम्य माना जा सकता है। स्वयं गांधी जी के ही शब्दों में, 'दुनिया केवल तर्क के सहारे नहीं चलती। जीवन में थोड़ी बहुत हिंसा तो है ही। अतः हमें न्यूनतम हिंसा के रास्ते को अपनाना है।'[35]

राज्य द्वारा कानून बना कर न्यासिता के सिद्धांत को लागू करने के प्रयोजन से एक 'सरल और व्यावहारिक न्यासिता सूत्र' किशोरलाल मश्रूवाला और नरहरि परीख द्वारा भेजा गया था (वस्तुतः यह दस्तावेज प्रोफेसर एम.एल. दांतवाला ने तैयार किया था) और किंचित संशोधनों के साथ

गांधी जी ने उसका अनुमोदन भी कर दिया था। इस व्यावहारिक सूत्र में छह बिंदु हैं :

1. न्यासिता समाज की वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को समतावादी व्यवस्था में रूपांतरित करने का एक साधन है। न्यासिता पूंजीवाद को बख्शती नहीं है, पर वह वर्तमान मालिक वर्ग को सुधार का एक अवसर प्रदान करती है। यह इस विश्वास पर आधारित है कि मानव-प्रकृति कभी सुधार से परे नहीं होती।
2. यह निजी स्वामित्व के किसी अधिकार को नहीं मानती, सिवा उसके जिसकी अनुमति समाज अपने कल्याण के लिए दे।
3. यह धन-संपत्ति के स्वामित्व और उपयोग के कानूनी विनियमन की वर्जना नहीं करती।
4. तदनुसार राज्य द्वारा विनियमित न्यासिता के तहत, कोई व्यक्ति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए अथवा समाज के हितों की अनदेखी करते हुए अपनी संपत्ति को धारण करने अथवा उसका इस्तेमाल करने के लिए स्वतंत्र नहीं होगा।
5. जिस प्रकार एक समुचित न्यूनतम निर्वाह मजदूरी तय करने का प्रस्ताव है, उसी तरह समाज में व्यक्ति की अधिकतम आय भी नियत कर देनी चाहिए। न्यूनतम और अधिकतम आयों के बीच जो अंतर हो, वह युक्तिसंगत और न्यायोचित हो और उसमें समय-समय पर इस दृष्टि से परिवर्तन किया जाय कि अंततः वह अंतर मिट जाय।
6. गांधीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन का स्वरूप, व्यक्तिगत सनक या लोभ द्वारा नहीं, सामाजिक आवश्यकता द्वारा निर्धारित होगा।[36]

इस 'व्यावहारिक सूत्र' के अनुमोदन से कुछ माह पूर्व ही गांधी जी स्वयं 'हरिजन' में लिख चुके थे कि न्यासिता के सिद्धांत के अंतर्गत मालिकों को अपनी सेवा और समाज के लिए उसके मूल्य को देखते हुए कमीशन मिलेगा जिसकी दर का नियमन राज्य द्वारा किया जाएगा। उनके बच्चों को उनके स्थान पर न्यासी बनने की आज्ञा तभी मिलेगी जबकि वे स्वयं को इसके योग्य सिद्ध कर सकेंगे।[37]

यहां यह स्मरणीय है कि कुछ बड़े उद्योगों को तो गांधी जी सीधे राज्य के नियंत्रण में ही रखने के पक्ष में थे। कुछ बड़े उद्योगों की आवश्यकता को मानते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा था : जिन उद्योगों में बड़ी संख्या में लोग एक साथ काम करते हों, वे राजकीय स्वामित्व में होने चाहिए। इनमें कुशल और अकुशल दोनों ही प्रकार के श्रमिक राज्य के माध्यम से अपने उत्पादों के स्वामी होंगे।[38] यंत्रों के बारे में अपनी राय प्रकट करते हुए बड़े कारखानों की आवश्यकता से संबंधित एक सवाल के जवाब में रामचंद्रन् से उन्होंने कहा था : हां, लेकिन मैं इतना कहने की हद तक तो समाजवादी हूं ही कि ऐसे कारखानों का मालिक राष्ट्र हो या जनता की सरकार की ओर से ऐसे कारखाने चलाए जाएं, उनकी हस्ती नफे के लिए नहीं बल्कि लोगों के भले के लिए हो। लोभ की जगह प्रेम को कायम करने का उसका उद्देश्य हो।[39]

प्रेम का नियम, 'लोभ की जगह प्रेम कायम करना', ही गांधी जी के अर्थशास्त्र की मूल प्रेरणा है। ठोस आर्थिक आवश्यकताओं की कहीं भी अनदेखी न करते हुए भी महात्मा गांधी का अर्थशास्त्रीय चिंतन सत्य और अहिंसा की मूल प्रेरणाओं को सदैव केंद्र में रखता है। स्वदेशी, स्वावलंबी ग्राम, विकेंद्रीकरण, आर्थिक समानता आदि जैसे एक ही बीज से उत्पन्न वृक्ष की शाखाएं-प्रशाखाएं हो जाते हैं और इन सब का उद्देश्य केवल आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना नहीं बल्कि मनुष्य का नैतिक-आध्यात्मिक विकास करना हो जाता है। अहिंसक प्रौद्योगिकी, अहिंसक उत्पादन-संबंध और अहिंसक स्वामित्व विकसित करने की अहिंसक प्रक्रिया के दिशा-संकेतों द्वारा महात्मा गांधी हमें बार-बार यह स्मरण दिलाते हैं कि हम केवल आर्थिक प्राणी या उपभोक्ता मात्र नहीं हैं और हमारी आर्थिक आवश्यकताएं न केवल हमारे नैतिक विकास में कहीं भी आड़े नहीं आतीं बल्कि उसमें एक प्रमुख माध्यम बन सकती हैं यदि हम अपने वास्तविक आत्म को भूलें नहीं। हमारी प्रत्येक आर्थिक क्रियाशीलता एक प्रकार की आध्यात्मिक साधना भी है यदि हम यह स्मरण रख सकें कि हम इस समग्र से अलग नहीं, इसी के अंश हैं। यही सर्वोदय है क्योंकि इसमें न केवल सबका उदय बल्कि सबका भौतिक और आध्यात्मिक सब आयामों में भी उदय संभव होता है। ❖

संदर्भ :

1. यंग इंडिया, 8.12.1927, पृ. 414
2. हरिजन, 2.11.1934, पृ. 301-2
3. हरिजन, 29.8.1936, पृ. 228
4. यंग इंडिया, 2.7.1931, पृ. 161
5. हरिजन, 1.6.1947, पृ. 172
6. हरिजन, 25.8.1946, पृ. 281
7. हरिजन, वही
8. हरिजन, 31.3.1946, पृ. 58
9. हरिजन, 20.10.1946, पृ. 363-64
10. यंग इंडिया, 26.1.1921, पृ. 27
11. यंग इंडिया, 13.10.1921, पृ. 325

12. हरिजन, 27.1.1940, पृ. 428
13. हरिजन, 2.11.1934, पृ. 302
14. हरिजन, 17.11.1946, पृ. 404
15. हरिजन, 2.11.1934, पृ. 301
16. यंग इंडिया, 12.11.1931, पृ. 355
17. वही
18. समुचित तकनीक, पृ. 102-3
19. समुचित तकनीक, पृ. 102-3
20. अठारहवीं शती में इंग्लैंड का इतिहास, लैकी पृ. 256.56, पं. सुन्दरलाल की 'भारत में अंग्रेजी राज' में उद्धृत
21. 'भारत में अंग्रेजी राज' में उद्धृत पृ. 569-573
22. हरिजन, 14.9.1935, पृ. 244
23. यंग इंडिया 15.11.1928, पृ. 381
24. मानव अर्थशास्त्र, नरहरि परीख, पृ. 548-49
25. वही
26. स्पीचेज एंड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गांधी, पृ. 336-44
27. हरिजन, 1.9.1940, पृ. 271-72
28. वही
29. फ्रॉम यरवदा मंदिर, आश्रम आब्जर्वेसेज : महात्मा गांधी, पृ. 53-56
30. हरिजन, 29.8.1936
31. यंग इंडिया, 26.11.1931, पृ. 369
32. हरिजन, 16.12.1939, पृ. 376
33. हरिजन, 25.8.1940, पृ. 260-61
34. दि मॉडर्न रिव्यू, अक्टूबर, 1935, पृ. 412
35. हरिजन, 28.9.1934, पृ. 259
36. हरिजन, 25.10.1952, पृ. 301
37. हरिजन, 31.3.1946, पृ. 63-64
38. हरिजन, 1.9.1946, पृ. 285
39. हिंद स्वराज्य, महादेव भाई की प्रस्तावना, पृ. 15

आज हमने अपनी आवश्यकताओं का जंजाल इतना बढ़ा लिया है कि हम यह विवेक करना भी भूल गए हैं कि हमारी सच्ची आवश्यकताएं क्या हैं और ऐश-आराम की वस्तुएं क्या हैं? जब तक मनुष्य अपनी आवश्यकताएं उतनी ही रखता है जितनी उसके शरीर को भली-भांति काम करने लायक स्थिति में रखने के लिए जरूरी हैं, तब तक वे अपने आप ही संपत्ति के सद्व्यय की उचित मर्यादा में रहती हैं। लेकिन जब वह तथाकथित सभ्य जीवन का स्तर अपनाता है और ऐसी आवश्यकताएं बढ़ाने लगता है जिनकी कीमत जीवन की दृष्टि से बहुत कम है, कुछ नहीं है या घटाने लायक है, तब संपत्ति के उत्पादन और व्यय दोनों में भूलें और बिगाड़ होने की संभावनाएं बढ़ने लगती हैं और राष्ट्रीय आय निकम्मी और हानिकारक चीजों पर खर्च होने लगती है। इसीलिए पश्चिम के बहुत-से विचारवान लोगों ने और गांधी जी ने आधुनिक सभ्यता को एक महारोग कहा है।

निकम्मी चीजों पर गलत खर्च करना हमें पुसा नहीं सकता। हमारे पास जो कुछ है उसका पूरा पूरा सदुपयोग हम करेंगे तो ही टिक सकेंगे। अलबत्ता, इसका यह मतलब नहीं कि हम कंगाल और नीरस जीवन बिताएं। केवल हमारी शारीरिक आवश्यकताएं पूरी हो जाएं, इससे हमें कभी संतोष नहीं मानना चाहिए। जीवन में आनंद और उल्लास के लिए जरूर स्थान है। परंतु यह आनंद और उल्लास प्राप्त करने के तरीके हमें ऐसे खोजने चाहिए, जो सारे समाज को बल पहुंचाने वाले हों। सद्व्यय की एक नई कला हमें निर्माण करनी होगी और इसके लिए समाज को तालीम भी देनी होगी। खर्चीले साधनों के बिना भी हम ऊंचे प्रकार का आनंद ले सकते हैं। कम खर्च वाले खेलकूदों की योजना की जा सकती है। और बड़े-बड़े साधनों का आडंबर रचे बिना भी नृत्य-संगीत पूरी तरह आह्लादक बनाए जा सकते हैं। प्राकृतिक दृश्यों का रसास्वाद लेने की हमें तालीम मिली हो, तो उनमें से तो उल्लास की धाराएं बहाई जा सकती हैं। और इससे कौन इनकार कर सकता है कि मोटर या रेल की यात्रा की अपेक्षा पैदल यात्रा का मूल्य कहीं अधिक है? सभ्यता के नाम पर अथवा आनंद-उल्लास या मौज-शौक के नाम पर संपत्ति का दुर्व्यय सच्चे विकास या प्रगति का लक्षण नहीं है; बल्कि सादे जीवन के साथ ऊंचे विचारों और ऊंची रसवृत्तियों का विकास करने में ही सच्चा विकास और सच्ची प्रगति है।

— नरहरि द्वारकादास परीख

बढ़ती जा रही हिंसा को लेकर समूचे विश्व में जिस तरह की चिंता महसूस की जा रही है उससे इतना तो स्पष्ट है कि आज के समय की यह सबसे बड़ी समस्या है। हिंसा की इस समस्या के कई पहलू हैं, पर इन पर जिस गहनता से विमर्श होना चाहिए—व्यापक स्तर पर उसका अभाव परिलक्षित होता है। हिंसा क्या है, क्यों है—ये प्रश्न भी पहले स्पष्ट होने जरूरी हैं। प्रस्तुत आलेख न केवल इन प्रश्नों के उत्तर ही देता है, हिंसा विरति के उपायों पर भी अपना विमर्श प्रस्तुत करता है।

भगवान महावीर के 2600वें जन्म कल्याणक काल और वर्तमान युग में अहिंसक जीवनशैली के द्रष्टा आचार्यश्री महाप्रज्ञ के दीक्षा दिवस (3 फरवरी, 2001) जो कि 'युवा दिवस' के रूप में समूचे राष्ट्र में मनाया जाता है—साध्वी शुभ्रयशा का यह आलेख युवजनों के विमर्श के लिए सर्वाधिक प्रासंगिक है, क्योंकि युवजन ही वह शक्ति है जो समाज में कुछ करने में समर्थ है। जैन भारती के पाठकों के लिए अवसर विशेष पर यह आलेख—

हिंसा विरति-अविरति—आचारांग के परिप्रेक्ष्य से

□ साध्वी शुभ्रयशा □

हिंसा का परिवार विशाल है। इसका कार्यक्षेत्र भी बहुत व्यापक है। रणनीति हो या राजनीति, सर्वत्र हिंसा व्याप्त है। एक समय था जब युद्ध में भी नियम और मर्यादा होती थी, आचार-संहिता होती थी। सूर्यास्त के बाद युद्ध बंद हो जाता था। निहत्थे को मारना कायरता समझा जाता था। दिन में लड़ते और रात को गले मिलते। किंतु आज हिंसा ने सभी मर्यादाओं का उल्लंघन कर दिया है। दिन हो या रात, निहत्था हो या शस्त्रधारी, कोई किसी को मार सकता है। किसी का अपराध हो या निरपराधी, हिंसा के शिकंजे से कोई बच नहीं सकता।

असंयम के कारण भोगवाद बढ़ रहा है। अर्थशास्त्र का विकास इसी पर टिका है। आसक्ति के कारण चेतना पर सघन आवरण आ गया है। परिग्रह के कारण आतंकवाद की सीमाएं मजबूत हो रही हैं। प्रमाद के कारण पग-पग पर हिंसात्मक प्रवृत्तियां हो रही हैं। ये सारे हिंसा के आधारभूत तत्त्व हैं। हिंसा के परिवार को एक रूपक में प्रस्तुत करके इसका स्पष्टीकरण किया है—

हिंसा क्या ? एक वटवृक्ष।

हिंसा क्यों ? परिग्रह, असंयम, आसक्ति और प्रमाद है, इसीलिए हिंसा है। हिंसा का उद्देश्य क्या ? सुख-सुविधा की सामग्री जुटाना। इंद्रिय व मन को प्रसन्न रखना।

हिंसा की निष्पत्ति क्या ? दुख, संक्लिष्ट चित्तवृत्ति, आधि, व्याधि और उपाधि की प्राप्ति।

हिंसा एक वटवृक्ष है। रागद्वेष इसकी जड़ें हैं। असंयम, आसक्ति, परिग्रह और प्रमाद इसका मोटा तना है। यह इसी पर आधारित है। कषाय, चतुष्टक—क्रोध, मान, माया और लोभ हिंसा रूपी वटवृक्ष की शाखाएं हैं। संक्लिष्ट चित्तवृत्ति, अशुभ अध्यवसाय और भय इसकी उपशाखाएं हैं। जब इस वटवृक्ष को आसक्ति के जल से सींचा जाता है, परिग्रह की धूप और प्रमाद की खाद से पोषित किया जाता है तब इसके अविरति रूप फल प्राप्त होते हैं। जिन्हें प्राप्त कर व्यक्ति कभी समाधिस्थ नहीं हो सकता। वे फल किंपाक फल की तरह परिणाम भद्र नहीं होते क्योंकि वे आधि, व्याधि और उपाधि को पैदा करते हैं।

हिंसा एक विभाव है। विभाव हमेशा दुख का हेतु बनता है। अतः हिंसा का परिणाम सुखद कैसे हो सकता है ? आचारांग सूत्र में इसीलिए कहा गया कि हिंसा सदैव अहित के लिए होती है, हिंसा अबोधि के

लिए ही होती है। हिंसक व्यक्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्रात्मक रत्नत्रई को चिरकाल तक प्राप्त नहीं कर सकता। पर्यावरण के संदर्भ में हिंसा के परिणामों का अध्ययन करने से स्पष्ट अवबोध हो सकता है।

वर्तमान में पर्यावरण असंतुलित हो रहा है। नाभिकीय विस्फोट भी इसका कारण माना जाता है। वैज्ञानिकों का कहना है कि यदि अणुयुद्ध हुआ तो विश्व-स्थिति में भारी परिवर्तन आ जाएगा। सारी धरती व आकाश धूल से भर जाएंगे। तापमान कहीं पर बहुत अधिक होगा, कहीं पर शून्य से भी नीचे रहेगा। गर्मी और सर्दी, मौसम असंतुलित हो जाएगा। हिमखंड पिघल जाएंगे। बस्तियां पानी में बह जाएंगी, सारा भूभाग विषाक्त हो जाएगा।

आचारांग व भगवती के संदर्भ में इस विषय का जब अध्ययन करते हैं तो लगता है आचारांग और व्याख्याप्रज्ञप्ति की अवधारणा समान हैं। अवसर्पिणी के छट्ठे आरे के प्रारंभ में वायु प्रलयंकारी हो जाएगी। समवर्तक वायु से पहाड़ चलायमान हो जाएंगे। आकाश व धरती धूल से भर जाएगी। सूर्य इतना गर्म होगा कि आदमी झुलस जाएगा। चंद्रमा इतना ठंडा होगा कि रात को कोई आदमी बाहर नहीं निकल सकेगा। निकलेगा तो ठंड के कारण मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा। सारे पर्वत नष्ट हो जाएंगे। केवल एक पर्वत वैताढ्य (हिमालय) बचेगा। लोग उसी की शरण में रहेंगे। वर्षा से जो पानी बरसेगा, उससे रोग बढ़ेंगे। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े, मकौड़े सभी नष्ट हो जाएंगे। नदियां सूख जाएंगी। आचारांग व भगवती का यह वर्णन नाभिकीय विस्फोट से भी अधिक खतरनाक है।

प्रश्न है प्रकृति के इस सौम्य रूप का इतना विषम प्रचंड स्वरूप क्यों होगा? सृष्टि का यह संतुलन क्यों बिगड़ेगा? इसका कारण है अनर्थ हिंसा। अनर्थ हिंसा के कारण पर्यावरण बिगड़ रहा है और अधिक बिगड़ने की संभावना है। वनों की अंधाधुंध कटाई के कारण पृथ्वी पर कार्बनडाइ-ऑक्साइड की मात्रा बढ़ रही है। वर्तमान में यह लगभग 33 प्रतिशत बढ़ गई है। इससे धरती का तापमान बढ़ रहा है। ओजोन के छेद का कारण भी यही है। इससे पृथ्वी पर आने वाली पराबैंगनी किरणों का अवशोषण नहीं हो रहा है और चर्मरोग व अन्यान्य संक्रामक रोगों का कारण भी प्रकृति का बढ़ता असंतुलन ही है। सुरक्षा कवच के छेद से पृथ्वी दिनोदिन असंतुलित हो रही है। ऑक्सीजन की कमी व वनों की अतिरिक्त कटाई इसका कारण है। यह प्राणी समाज के लिए वर्तमान का अहित है।

आचारांग में उल्लेख है कि पृथ्वीकाय को वैसे ही कष्टानुभूति होती है जैसे मूर्च्छित मनुष्य को प्राण वियोजन करने पर कष्ट होता है। वर्तमान में पृथ्वी का अतिदोहन किया जा रहा है। भूवैज्ञानिकों ने आशंका प्रकट की है कि यदि कुछ वर्षों तक इसी तरह भूतल का दोहन किया गया तो प्रकृति का संतुलन बिगड़ जाएगा। उद्योगीकरण की लहर के कारण भी पृथ्वी का अतिरिक्त दोहन हो रहा है। वायु प्रदूषण भी बढ़ रहा है। इससे कार्बनडाइ-ऑक्साइड तथा अन्य गैसें वायुमंडल को दूषित कर रही हैं। विकास के नाम पर हम विनाश की ओर गति कर रहे हैं। यह विपरीत गति अहित का कारण है।

अप्काय का असंयम हिंसा का कारण है। कुछ लोग जलकाय में जीवत्व स्वीकार नहीं करते थे—जल में जीव होते हैं, यह मान्यता थी। महावीर ने कहा जल स्वयं जीव है और अनेक त्रस जीव भी जल के आश्रित होते हैं। वे अप्काय जीव नहीं हैं। किंतु वे जल में उत्पन्न होने वाले त्रसकायिक जीव हैं। इस प्रकार जल निश्रित जीव और जलकायिक जीवों के संबंध में चार विकल्प बनते हैं—

1. सजीव जल का जल-निश्रित जीवों का अस्तित्व।
2. निर्जीव जल का जल-निश्रित जीवों का अभाव।
3. निर्जीव जल का जल-निश्रित जीवों का अस्तित्व।
4. सजीव जल का जल-निश्रित जीवों का अभाव।

इंद्रियसंपन्न मनुष्य के पैर आदि का शस्त्र छेदन करने पर उनको जो कष्टानुभूति होती है वैसी ही जलकायिक जीवों को होती है। पर्यावरण विज्ञान के अनुसार जल प्रदूषण मनुष्य के अस्तित्व की सुरक्षा के लिए खतरा पैदा कर रहा है। जीवन के लिए ऑक्सीजन अति आवश्यक है। पृथ्वी पर 50-60 प्रतिशत प्राणवायु का उत्पादन पानी में पैदा होने वाली सूक्ष्म वनस्पतियों से होता है। वह सूर्य से प्रकाश संश्लेषण कर हाइड्रोजन व ऑक्सीजन को विभक्त करती है। इसके अतिरिक्त हजारों मिलियन कचरा, मल, कारखानों का गंदा जल, जलकाय के लिए शस्त्र का काम कर रहे हैं। इनसे जलकाय की हिंसा तो होती है, मनुष्य का भी बहुत नुकसान होता है। जलकाय में रहने वाले जीव जैसे मछली व अन्य प्राणी प्रदूषण से अप्रभावित नहीं रह सकते। जलीय प्रदूषण के कारण वे जो भी आहार करते हैं उससे उनके शरीर में विष जमा हो जाता है। उन्हीं जंतुओं का उपयोग जब मनुष्य खाने के लिए करता है तो वह विष मनुष्य के शरीर में भी चला जाता है। इससे स्पष्ट है कि जलकाय की हिंसा व्यक्ति के लिए अहितकारी है।

पृथ्वी, तृण, पत्र, काष्ठ, गोबर और कचरे के आश्रय में जो प्राणी रहते हैं, उनमें उड़ने वाले प्राणी भी होते हैं। ऊपर से नीचे आकर गिर जाते हैं। कुछ प्राणी अग्नि का स्पर्श प्राप्त कर संघात को प्राप्त हो जाते हैं। कुछ मर भी जाते हैं। मनुष्य को मूर्च्छित या प्राणवियोजन करने पर कष्टानुभूति होती है, वैसी ही कष्टानुभूति अग्निकायिक जीवों को होती है। अग्निकाय का असंयम करने से ऊर्जा के स्रोत कम हो रहे हैं। जिस ऊर्जा का प्रयोग किसी सृजनात्मक विकास के लिए किया जा सकता है, उसका व्यर्थ ही दुरुपयोग हो रहा है। अग्निकाय के प्रति असंयम व अजागरूक व्यवहार होने से उत्पादन में भारी कटौती की जा रही है। बड़े-बड़े शहरों में निश्चित काल के लिए ऊर्जा के स्रोत बंद कर दिए जाते हैं। इससे उद्योग, चिकित्सा व पारिवारिक—सभी क्रियाकलाप प्रभावित हो रहे हैं।

आचारांग में वनस्पति के लिए 'दीर्घलोक' का प्रयोग किया गया है। स्थावर जीवों में वनस्पति की चेतना अत्यधिक स्पष्ट है। वनस्पति की हिंसा भी व्यक्ति के अहित का निमित्त बनती है। प्रदूषण के संदर्भ में यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। पर्यावरण विशेषज्ञों के अनुसार पेड़-पौधों के कारण ही जीवन है। वनस्पति के बिना जीवन असंभव है। जैविक संतुलन बनाए रखने के लिए वनस्पति की अहम भूमिका है। यह मानव के लिए अनेक दृष्टियों से वरदान है। संसार में जितनी प्राणवायु है उसका अधिकांश भाग वनस्पति से ही उत्पन्न होता है। मनुष्य की अधिकांश आवश्यकता की पूर्ति वनस्पति के द्वारा ही होती है, अतः उसका विनाश मनुष्य का अपना विनाश है। वनस्पति की हिंसा करने से प्राकृतिक संतुलन बिगड़ जाता है। जंगलों में वृक्षों के कट जाने से पृथ्वी की जलसंधारण क्षमता कम हो जाती है। ऐसी स्थिति में थोड़ी ही वर्षा बाढ़ का रूप ले लेती है। करोड़ों टन उपजाऊ मिट्टी बह जाती है। इसलिए महावीर ने कहा—वनस्पति की हिंसा मत करो। वनस्पति की हिंसा तुम्हारे लिए अहित का कारण है। सूत्रकृतांग में भी उल्लेख है कि दूसरे प्राणियों की हिंसा करने वाला अपनी हिंसा भी करता है। दूसरों को दंडित करने वाला अपने आपको भी दंडित करता है। इसलिए हिंसक को आत्मदंड कहा जाता है। वायुकाय की हिंसा के संबंध में आचारांग में उल्लेख है कि वायुकाय की हिंसा अहित और अबोधि का कारण है। वायु को वैसे ही कष्टानुभूति होती है जैसे शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर इंद्रिय विकल व्यक्ति को कष्ट होता है। वायुमंडलीय प्रदूषण मानव के लिए ही नहीं प्राणी मात्र के लिए हानिकारक है। वायु में तैरते कण सूर्य के प्रकाश का अवचूषण करते हैं जो पौधों के फोटोसिंथेसिस के लिए अत्यंत आवश्यक है। इसका प्रभाव उत्पादन पर पड़ता है। प्रदूषण वाले पदार्थ जब पत्तियों पर इकट्ठे हो जाते हैं तो वे सूर्य की विकिरणों को पौधों के अंदर प्रवेश नहीं करने देते। इससे पौधे अपना आहार अच्छी तरह से नहीं बना सकते। एक व्यक्ति पूरे साल में जितनी आक्सीजन का उपयोग करता है उतनी ही ऑक्सीजन 1 टन कोयला जलने में नष्ट हो जाती है। वायु प्रदूषण के कारण अनेक रोग हो जाते हैं। कैंसर, दमा व अन्य कई शारीरिक रोगों का कारण वायु प्रदूषण है।

असंयम के कारण त्रसकाय की हिंसा होती है। वह हिंसा व्यक्ति के लिए अहित व अबोधि का कारण है। तो आतुर मनुष्य स्थान-स्थान पर त्रसकाय प्राणियों को परिताप दे रहे हैं। वे दुख से अभिभूत हो दिशाओं और विदिशाओं में सब ओर से भयभीत रहते हैं। त्रस-जीवों की हत्या करने वाले संत्रस्त रहते हैं, उद्विग्न होते हैं, संकुचित होते हैं, डरते हैं। भयभीत अवस्था में इधर-उधर पलायन करते हैं। भय की स्थिति में सारा नाड़ी-ग्रंथि-तंत्र असंतुलित हो जाता है। व्यक्ति का स्व-नियंत्रण समाप्त हो जाता है।

महावीर ने षड्जीवनिकाय की हिंसा का बहुत सूक्ष्मता से विवेचन किया है। आचारांग में इसके स्वरूप, परिणाम व कारण की मीमांसा बहुत सूक्ष्मता से की गई है। जो एक की हिंसा करता है वह षड्जीवनिकाय की हिंसा करता है। यह हिंसा संबंधी बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण है। व्यक्ति की स्थूल बुद्धि इसे ग्रहण नहीं कर सकती। किंतु विज्ञान ने प्रयोग के आधार पर महावीर के चिंतन को नए रूप में प्रस्तुत कर एक क्रांति की है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार एक पत्ता भी यदि हिलता है तो उससे सारा विश्व प्रभावित होता है।

षड्जीवनिकाय में जीवत्व की व्याख्या महावीर के अतिशय ज्ञान की साक्ष्य है। यह अलौकिक बात है। सारा लोक जीवों से भरा है। शरीर का एक अणु जितना भी हिस्सा ऐसा नहीं है जहां सूक्ष्म जीव नहीं हों। भगवान से प्रश्न पूछा गया—इस अंगुली में कितनी काय के जीव हैं? उत्तर दिया—यह स्वयं तो जीव है ही किंतु असंख्य सूक्ष्मकाय जीव भी इसमें हैं। इसमें पृथ्वीकाय भी है, अप्काय भी है, तैजसकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीव भी हैं। एक सूई की नोक टिके, उतने भाग में अनंत जीव हो सकते हैं।

हिंसा करने वाले और उसमें लीन रहने वाले मनुष्य बार-बार जन्म लेते हैं। हिंसा के कारण व्यक्ति बार-बार जन्म-मरण करता है। कभी वह एकेंद्रिय में जाता है, कभी विकलेंद्रिय में। आयुष्य पूर्ण होने पर पुनः-पुनः विभिन्न

जातियों में जन्म धारण करता है। जीव निकाय की हिंसा करता है। वह बार-बार विपर्यास (जन्म-मरण) को प्राप्त करता है। जन्म मरण को प्राप्त करता हुआ अनेक शारीरिक व मानसिक दुखों का अनुभव करता है। क्रूर कर्म करता है।

जीवनिकाय की हिंसा करने वाला अपनी हिंसा करता है। दूसरों की हिंसा करने से पहले स्वयं के सद्चिंतन की हत्या होती है, फिर समरंभ, समारंभ व आरंभ की प्रक्रिया होती है। हिंसा का परिणाम न इहलोक में सुखदाई होता है, न परलोक में। पाप कर्म करने वाला दुर्बुद्धि के कारण अपने पाप कर्मों से इस प्रकार संतप्त हो जाता है, जिस प्रकार से अविरति से जला मनुष्य। जो मनुष्य दंड के अयोग्य और निर्दोष लोगों को दंड से पीड़ित करता है, वह मनुष्य निम्न स्थितियों में से किसी एक को अवश्य प्राप्त होता है—

1. तीव्र वेदना 2. हानि 3. अंगभंग 4. भारी बीमारी या पागलपन 5. राजा से दंडप्राप्ति या भयानक निंदा 6. जाति या बंधुजन का विनाश 7. भोग्य वस्तुओं का क्षय 8. गृहदाह 9. नरक प्राप्ति। अल्पायु, रोग, कुरूप, विकलेंद्रिय, दुर्बल, मूर्ख आदि।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हिंसा के परिणामों को साक्षात् देखने से ज्ञात होता है कि हिंसा करने वाला परिग्रह की बुद्धि से मूढ़ बन सर्वत्र अपयश को प्राप्त करता है, फिर चाहे शीर्षस्थ व्यक्ति हो या साधारण जन। पदार्थ प्रतिबद्धता, असंयम, आसक्ति और प्रमाद व्यक्ति की हिंसक मनोवृत्ति को बढ़ावा देते हैं।

हिंसा विरति के उपाय

आचारांग में केवल हिंसा के स्वरूप, हिंसा के कारणों और परिणाम की चर्चा की गई है अपितु उनसे बचने के उपायों का निर्देश भी है। हिंसा से विरत होने का सबसे पहला उपाय है परिज्ञा का विवेक। 'परिज्ञातकर्मा' लोक में ये सभी कर्म समारंभ परिज्ञातव्य होते हैं। परिज्ञा का तात्पर्य है—ज्ञान अथवा ज्ञानपूर्वक विरति। महावीर ने कहा—पढमं नाणं तओ दया—पहले ज्ञान करो, फिर उसका आचरण। इस सिद्धांत के अनुसार पहले 'ज्ञ' परिज्ञा से हिंसा का ज्ञान करना तत्पश्चात प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसे छोड़ना। परिज्ञातकर्मा का हार्द यही है कि व्यक्ति कर्म समारंभ के परिणामों को जान लेने के बाद उनसे उपरत हो जाएं। चूर्णि में भी निर्देश है कि जो ज्ञानपूर्वक विरत होता है। वही परिज्ञातकर्मा है।

हिंसा का मूल कर्मविपाक है। इसलिए कर्म का सर्वांगीण ज्ञान कर उसकी परिज्ञा करने से व्यक्ति हिंसा से बच सकता है। कर्म का बंध कैसे होता है? कर्म कौन बांधता है? विपाक कब होता है, क्यों होता है? कर्म की स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का बंध कैसे होता है? इस प्रकार कर्म के विषयों में सभी पहलुओं का ज्ञान कर हिंसा की परिज्ञा की जा सकती है। हिंसा विरति का एक उपाय है—हिंसा के मूल कर्मविपाक का ज्ञान करना। जो व्यक्ति कर्मविपाक को जान लेता है वह पदार्थ का भोग अन्यथा करता है। जैसे साधारण मनुष्य असंयत प्रवृत्ति से पदार्थों का भोग करता है। कर्म-विपाक को जानने वाला संयत प्रवृत्ति से पदार्थों का उपयोग करता है।

इसी संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि जो पृथ्वीकाय आदि जीवों में चेतना स्वीकार कर उनके समारंभ से विरत होता है वह परिज्ञातकर्मा कहलाता है। जीवनयापन के लिए जागरूकतापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला मानसिक हिंसा से बच जाता है। प्राणी का मनोभाव भावशस्त्र है। इसलिए अन्यदर्शी हिंसा के कारक—विषय, कषाय, आसक्ति आदि से उपरत हो जाता है। राग-द्वेष को छिन्न कर निष्कर्मदर्शी बन जाता है। ऐसा व्यक्ति हिंसा नहीं कर सकता है।

हिंसा विरति का उपाय है—संयममय जीवन-निर्वाह करना

हिंसा विरति का उपाय है—संयममय जीवन-निर्वाह करना। जो जितना संयत होता है वह उतना ही हिंसा से बच सकता है। संयमी व्यक्ति कर्म-परिज्ञा का विवेक कर हिंसा नहीं करता। वह इंद्रियों का संयत व्यवहार करता है, उन पर नियंत्रण रखने से एक सीमा तक हिंसा से उपरत हो जाता है। संयत की साधना करने वाला शब्दादि विषयों की उपेक्षा करता है, उनके प्रति तटस्थ रहता है। जो भिक्षु शरीर, वाणी और मन का संयम करता है वह सब विषयों से उपरत हो जाता है।

अनासक्त चेतना का विकास

हिंसा विरति का महत्त्वपूर्ण उपाय है—अनासक्त चेतना का विकास करना। चित्त को राग-द्वेष के भावों से मुक्त रखना। आचारांग में हिंसा विरति के उपायों का उल्लेख करते हुए कहा है कि वीर पुरुष (अनासक्त) हिंसा कर्म में लिप्त नहीं होता। अनासक्त व्यक्ति संभूत कर्मों का बंध नहीं करता। ममत्वमुक्त चेतना की पारगामी प्रवृत्ति करता हुआ भी हिंसा से अलिप्त रहता है। वास्तव में निर्लेपता हिंसा विरति का उपाय है। भोगों में उपलेप होता है, अभोगी उनमें लिप्त नहीं होता। विषयासक्ति से विरत व्यक्ति जन्म-मरण की परंपरा से उपरत हो जाता है। शब्द, रस, घ्राण और स्पर्श से विरक्त मनुष्य शोकमुक्त हो जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में रहकर भी उससे लिप्त नहीं

होता वैसे ही वह संसार में रहकर अनेक दुखों की परंपरा से लिप्त नहीं होता। जो इनके प्रति राग या द्वेष करता है वह हिंसक बन जाता है। अन्यथा अनासक्त भाव से विषयों का भोग करने वाला हिंसा नहीं करता। योगयुक्त साधक क्रिया करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। जो योगयुक्त है, विशुद्ध है, विजितात्मा है और जितेंद्रिय है वह सभी प्राणियों को अपने समान समझता है। वह क्रिया करता हुआ भी लिप्त नहीं होता, कर्म बंधन नहीं करता। हिंसा से विरत हो जाता है। 'कुसले पुण णो बद्धे कुशल'—सर्वपरिज्ञाचारी पुरुष को पातंजल दर्शन में जीवनमुक्त या विदेहमुक्त कहा है। जीवनमुक्त व्यक्ति संसार में जीवनयापन करता हुआ भी कर्मबंध से उपरत हो जाता है।

विषयाशंसा से मुक्त और प्रज्ञावान पुरुष ही हिंसा से उपरत हो सकता है। मनुष्य विषयासक्ति व कषाय के कारण हिंसा में प्रवृत्त होता है। जिसकी भोगेच्छा निवृत्त हो जाती है वह आरंभ से उपरत हो जाता है। विषयाशंसा की निवृत्ति होने पर आसक्ति से ऊपर उठा जा सकता है। आसक्ति की अनुप्रेरणा से प्रेरित होकर ही व्यक्ति घोर बंध, वध, दारूण परिताप करता है, अनेक शारीरिक व मानसिक परिताप को प्राप्त करता है। आसक्ति से विरत होने का अर्थ है, हिंसा से विरत होना।

सत्याग्रहीप्रज्ञा जागरण

सत्याग्रहीप्रज्ञा जागरण हिंसा विरति का महत्त्वपूर्ण उपाय है। प्रवृत्ति का मुख्य स्रोत व्यक्ति का शुभ या अशुभ अध्यवसाय है। इसका संचालन प्रज्ञा के द्वारा किया जाता है। विमोह-मोह-रहित प्रज्ञा विषयासक्त नहीं होती है, उससे यथार्थ का अवबोध किया जा सकता है। मोहयुक्त प्रज्ञा सत्यान्वेषी नहीं हो सकती। इसके द्वारा यथार्थ का ज्ञान संभव नहीं है। जिसकी प्रज्ञा मोहरहित होती है वह शरीर, मन और वाणी की संयत प्रवृत्ति के द्वारा तथा भाव की ऋजुता व कथनी-करनी की एकता में विश्वास करता है। इसलिए उसका चित्त सत्यप्रज्ञा से भावित होने के कारण हिंसा से उपरत हो जाता है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति केवल बाह्याचार के द्वारा हिंसा से उपरत नहीं हो सकता, इसलिए सूत्रकार ने कहा है कि संयमी पापकर्म का अन्वेषण न करें, पापकर्म से विरत होने के लिए भावविशुद्धि का प्रयोग करना जरूरी है। पवित्र भावधारा वाला व्यक्ति हिंसा से उपरत हो जाता है। हिंसाजनित संस्कारों का विलय कर देता है।

संयमी साधक के लिए पूर्ण सत्यप्रज्ञ अंतःकरण से पाप कर्म अकरणीय हैं। जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है वह पापकर्म से स्वतः विरत हो जाता है। प्रज्ञावान के लिए पापकर्म अकरणीय हैं। तं णो अन्नेसिं—सूत्र का हार्द यही है कि संयमी स्वरूप को प्राप्त करने वाला हिंसा उत्पत्ति के कारणों से बचकर रहता है।

लोकसंज्ञा का परित्याग

हिंसा विरति का महत्त्वपूर्ण उपाय है लोकसंज्ञा का परित्याग करना। परिग्रह चेतना को निर्मूल कर, लोकसंज्ञा का परिज्ञान कर, उसे छोड़ने वाला हिंसा से उपरत हो सकता है। लोकसंज्ञा का तात्पर्य है—परिग्रह। परिग्रही व्यक्ति द्रष्टा नहीं हो सकता। परिग्रह में मूर्च्छित चित्त पदार्थ को देखता है या परिग्रह को देखता है। वह केवल चैतन्य का अनुभव नहीं कर सकता। इसीलिए द्रष्टा नहीं हो सकता। अतः हिंसा-विरति के लिए परिग्रह की परिज्ञा का विवेक आवश्यक है। आत्मा व पदार्थ में अभेदानुभूति के कारण परिग्रह में मूर्च्छा होती है। अतः भेद की अनुभूति, चैतन्य व पुद्गल भिन्न-भिन्न हैं, यह विवेक हिंसा विरति का आलंबन बनता है। परिग्रह का विवेक करने वाला इंद्रियजयी व्यक्ति राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। वास्तव में परिग्रह के हेतु दो हैं—राग और द्वेष। इनके कारण परिग्रह होता है। परिग्रह के लिए हिंसा होती है। कारण का विनाश होने पर कार्य स्वतः असिद्ध हो जाता है। अतः राग-द्वेषमुक्त चेतना का विकास होने पर हिंसा विरति स्वतः सिद्ध होती है।

अप्रमाद की चेतना का जागरण

हिंसा विरति का महत्त्वपूर्ण उपाय है अप्रमाद की चेतना का जागरण करना। प्रमाद हिंसा का कारण है। प्रमाद-विरति हिंसा विरति का हेतु है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। सभी प्राणियों की यह मनेच्छा शाश्वत है। यह जानकर प्रमाद नहीं करना चाहिए। प्रमाद न करना हिंसा विरति का आलंबन सूत्र है। प्रमाद हिंसा का कारण है, यह जानकर मेधावी मुनि दृढ़ संकल्प करें—अब वह नहीं करूंगा जो मैंने प्रमादवश पहले किया था। इस प्रकार अपने आप पर अनुशासन करने वाला, प्रमाद न करने वाला हिंसा से विरत हो जाता है। अप्रमादी व्यक्ति यथार्थ तत्त्व का अवबोध कर 'ज्ञ' परिज्ञा से वस्तु तत्त्व को जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से परित्याग कर अहिंसा में अवस्थित हो जाता है।

आत्मतुला का विकास

आत्मतुला का विकास हिंसा विरति का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इस भाव का जितना अभाव होता है व्यक्ति उतना ही अधिक हिंसक मनोवृत्ति का हो जाता है। शस्त्रपरिज्ञा

अध्ययन आत्मतुला की पराकाष्ठा पर प्रतिष्ठित है। षड्जीवनिकाय का निरूपण कर महावीर ने सबके अस्तित्व को समान रूप से स्वीकार किया। आचारांग का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि जब आत्मौपम्य की चेतना जाग जाती है तब अन्याय, विवाद स्वतः शांत हो जाते हैं। आत्मतुला का विकास होने पर किसी के प्रति मानसिक दुश्चिंतन, अन्याय, अप्रामाणिक व्यवहार, क्रूरता के भाव और अनिष्ट भाव नहीं आ सकते।

आचारांग का क्रियापक्ष व्यक्ति को इसी आचार के लिए प्रेरित करता है कि—'आत्मतुला का विकास करो, आचरण स्वतः शुद्ध हो जाएगा और हिंसा से विरति भी हो जाएगी।' हिंसा विरति का यह उपाय महावीर का अनुभूत सत्य है। जो आचारांग के माध्यम से मुखर हुआ है। जब प्रत्येक प्राणी के प्रति तादात्म्य की अनुभूति होगी तब मानसिक और व्यावहारिक हिंसा का निरसन स्वतः हो जाएगा। महावीर की वाणी—'एयं तुल्ल मण्णेसि' का हार्द यही है कि आत्मतुला का अवबोध जिसे हो जाता है वह हिंसा से विरत हो जाता है।

पर्यावरण के संदर्भ में हिंसा विरति का यह सूत्र और भी स्पष्ट हो जाता है। अहिंसा का अर्थ या विरति का अर्थ इतना ही नहीं कि 'किसी को मत मारो', अपितु 'आत्मतुला का विकास करो' है। उसका अर्थ यह भी है कि ऐसा वातावरण भी पैदा मत करो जिससे जीव मर जाएं, न मन से किसी के प्रति दुश्चिंतन करो और न वाणी से आत्मघाती वचनों का प्रयोग करो। ऐसी परिस्थिति पैदा मत करो जिससे जीव ही नहीं, अजीव का अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाए।

पर्यावरण के अनुसार जीव व अजीव एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जीव पदार्थों को व पदार्थ जीवों को प्रभावित करते हैं। पर्यावरण विज्ञान के अनुसार जीव पृथ्वी पर निश्चित तापमान में ही जी सकता है। सृष्टि का असंतुलन प्राणी मात्र को प्रभावित करता है। हिंसा विरति व पर्यावरण विज्ञान एक दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं। हिंसा करोगे, नरक में जाओगे—यह बात आज इतनी बुद्धिगम्य नहीं है, किंतु इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक संगत है कि पर्यावरण संतुलन बिगड़ जाएगा तो पृथ्वी पर जीना दुर्लभ हो जाएगा। दूसरों को प्रदूषित कर तुम बच नहीं सकोगे। पर्यावरण के असंतुलन से पृथ्वी नरक तुल्य बन जाएगी। सूत्रकार ने निर्देश दिया है—

संधिं लोगस्स जाणित्ता। आयओ बहिया पास।

आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता रोग-निदान के लिए चेतना के सूक्ष्म स्तरों का अनुसंधान कर रहे हैं। उन्होंने चेतना के सूक्ष्म स्तरों की खोज कर चेतन, अवचेतन व अर्धचेतन को जान लिया है। इससे चिकित्सा के क्षेत्र में बहुत सफलता मिली है। क्योंकि अवचेतन, अचेतन में दमित संस्कार सत्तर प्रतिशत हिंसा के कारक हैं। इसी प्रकार अध्यात्म की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि हिंसा विरति की चिकित्सा है—अविरति का बोध। मनोविज्ञान के अनुसार जब तक दमित संस्कारों का रेचन या उदात्तीकरण नहीं होगा, अविरति, असंयम आदि का परिष्कार नहीं होगा, तब तक हिंसा से विरति नहीं हो सकेगी।

इन हेतुओं की समीक्षा कर मनुष्य स्वयं हिंसा में प्रवृत्त नहीं होगा, न दूसरों से हिंसा करवा सकेगा। आत्मतुला का विकास होने पर यह बात सहज बुद्धिगम्य हो जाती है कि जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है। इससे अद्वैत का प्रतिपादन होता है। सब आत्माएं समान हैं। वे तुम्हारे से भिन्न नहीं हैं। इसीलिए जो व्यक्ति अन्य का घात करता है, वह अपने घात से बच नहीं सकता। यह हिंसा विरति का महत्त्वपूर्ण आलंबन है।

बौद्ध दर्शन में भी इस तथ्य को उजागर किया गया है कि सब मनुष्य हिंसा (दंड) से डरते हैं। सबको जीवन प्रिय है। अपने समान जानकर मनुष्य न किसी को मारे और न मारने की प्रेरणा दे।

आचारांग में उल्लेख है कि यदि युद्ध करना है तो आत्मा के साथ युद्ध करें। जो अपने सुख की इच्छा से अन्य प्राणियों को मारता है उसे वर्तमान काल में या भविष्य में कभी भी सुख नहीं मिल सकता। इसी का संवादी प्रमाण अनुशासन पर्व में मिलता है—

अहिंसकानि भूतानि दंडेन विनिहन्ति यः।
आत्मनः सुखमिच्छन् स प्रैत्य नैव सुखीभवेत्।।

कर्म की स्वीकृति हिंसा विरति का आलंबन सूत्र है। आचारांग में उल्लेख है—अपना किया हुआ कर्म अपने को ही भुगतना पड़ता है। इसीलिए किसी के हनन की इच्छा नहीं करनी चाहिए। कृतकर्म का भोक्ता व्यक्ति स्वयं है, यह विचार व्यक्ति को हिंसा विरति की दिशा में प्रस्थित करता है। जो किया है उसका फल स्वयं को मिलेगा। यह चिंतन आत्मकेंद्रित होने की अंतःप्रेरणा जागृत करता है। अंतःप्रज्ञा जागृत होने के बाद हिंसा विरति स्वतः हो जाती है। ❖

भारत-धर्म

□ हजारीप्रसाद द्विवेदी □

हमारा यह देश बहुत बड़ा है, स्थान में भी और काल में भी। न जाने कब से यहां के ऋषियों, मुनियों, संतों और कवियों ने अपने अनुभूत सत्य को नाना भाव से प्रकट करने का प्रयत्न किया है। वेदों का सम्मान निरंतर होता आया है, परंतु ऐसे शक्तिशाली संप्रदाय भी उत्पन्न हुए हैं जो वेदों को नहीं मानते। अनेक प्रकार की विचारधाराएं जब क्रमबद्ध युक्ति-तर्क का आश्रय लेती हैं तो 'दर्शन' कहलाती हैं; जब जीवन के नियामक विश्वासों और आचरणों का रूप ग्रहण करती हैं तो 'धर्म' कहलाती हैं और जब जीवन के मंगल के लिए ठोस सुंदर रूप में अभिव्यक्ति पाती हैं तो 'कला' का नाम धारण करती हैं। यह 'कला' छंद और स्वर का भी माध्यम ग्रहण करती है; चित्र, वास्तु और मूर्ति के रूप में भी प्रकट हो सकती है तथा मिट्टी, पत्थर, कांसा और तांबे की कमनीय मूर्तियों का रूप भी ले सकती है। इस प्रकार प्रत्येक आचरण और निर्माण के पीछे एक स्पष्ट विचारधारा है। इन विचारों का बौद्धिक रूप 'दर्शन' है, आचरणात्मक रूप 'धर्म' है और सुंदर मांगल्यमय अभिव्यक्ति 'कला' है। हमारे दर्शन का साहित्य बहुत ही बड़ा है; संक्षेप में उसकी चर्चा करना संभव नहीं। उसी प्रकार धर्म और कला का साहित्य भी अत्यंत विशाल है। संस्कृत, पालि, अपभ्रंश और आधुनिक देश-भाषाओं में लाखों पुस्तकें लिखी गई हैं और अब भी लिखी जा रही हैं। क्या कोई एक मूल बात इस सारे साहित्य में खोजी जा सकती है? ऊपर-ऊपर से देखने से यह बात बिल्कुल कठिन जान पड़ती है। वह कौन-सी बात है जो आस्तिक और नास्तिक कहे जाने वाले दर्शनों में, सगुण और निर्गुण कही जाने वाली भाव-धाराओं में, ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर मानी जाने वाली विचार-शृंखलाओं में समान रूप से पाई जा सके? क्या ऐसी कोई प्राण-शक्ति है जो ऊपर-ऊपर से बहु-विचित्र दीखने वाली दर्शन, धर्म और कला की मूल प्रवर्तिका मानी जा सके? कुछ विद्वानों ने उस मूल-प्रवृत्ति को खोजने का प्रयास किया है। सर जॉन वुडरफ ने एक भारत-धर्म की कल्पना करने का प्रयास किया था। उनका कहना है कि भारत-धर्म की पहली विशेषता यह है कि यह जगत केवल अस्त-व्यस्त और अव्यवस्थित रूप नहीं है बल्कि एक निश्चित व्यवस्था में बंधा हुआ है। यह व्यवस्था या आर्डर बहुत ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है। यह जगत अस्त-व्यस्त वस्तुओं का भंडार नहीं है, जिसके प्राणियों में परस्पर कोई नियामक संबंध नहीं है। धर्म वही नियामक संबंध है जिसके कारण विश्व स्थित है। धर्म-रहित संसार नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा, किंतु ऐसा होना संभव नहीं है क्योंकि धर्म अधर्म में भी.रहता है। धर्म संपूर्ण के अंश में भी विद्यमान हो सकता है, वह संसार की वस्तुओं की प्रवृत्ति में निहित है। अतएव इसका अभ्युदय प्रकृति के अनुकूल है। धर्म ऊपर से लादा हुआ कोई विधान नहीं है। संसार की जो वस्तु जिस रूप में है वह उन तत्त्वों की प्रकृति के कारण है जिनके द्वारा उस वस्तु का निर्माण हुआ है। धर्म वस्तुतः सत्ता का प्रकाशन है, वह पूर्णतया तभी नष्ट हो सकता है जब संसार नष्ट हो जाए। अतएव धार्मिकता में विश्वास करने का अर्थ किसी निरंकुश नियंता के सम्मुख अपनी विवशता में नहीं, अपितु तर्क पर आधारित बुद्धिग्राह्य सिद्धांतों में विश्वास करना है। धर्म व्यष्टि और समष्टि दोनों का नियमन करता है। यह समष्टि भी अनुरूपात्मक है, जिस सिद्धांत द्वारा व्यष्टि और समष्टि अंगांगि भाव से संबद्ध रहते हैं वह भी धर्म ही है। अतएव 'भारत-धर्म' के अनुसार धार्मिक व्यक्ति वह है जो यह समझता है कि वह संसार के सभी प्राणियों से अनेकानेक रूपों में संबद्ध है, तथा अधार्मिक वह है जो अन्य प्राणियों का कोई ध्यान रखे बगैर सभी को अहंकारवश अपने सीमित स्वार्थों की दृष्टि से आंकता है। यदि सभी प्राणी इस अधार्मिक प्रवृत्ति को ग्रहण कर लें तो संसार का नाश हो जाए। ❖

अनुभूति

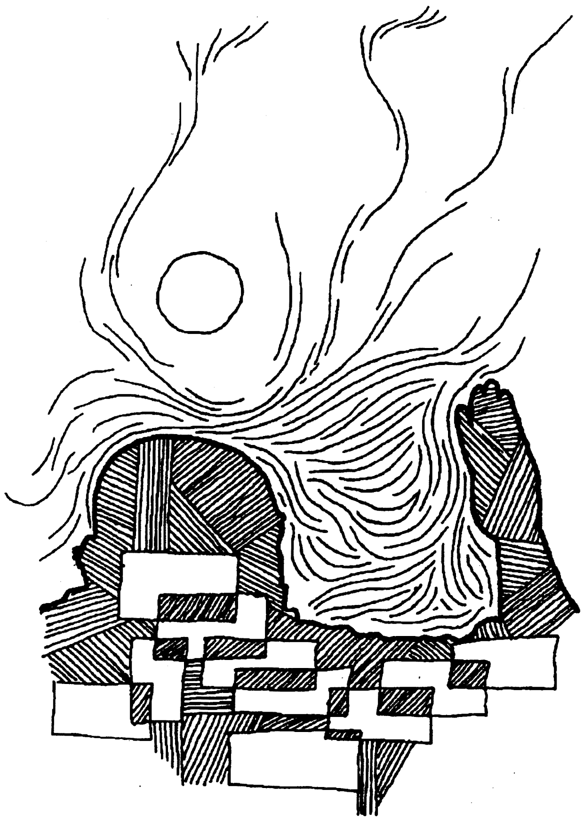

सेतु है ?

उस पार जात्रा लगी है
पर अपने-अपने सेतु से ही
वहां तक जाया जाता है।
तुम्हारा अपना सेतु है ?

जात्रा में
रंग एकत्रित हुए हैं,
गंध बिकने आई हैं
स्वरों की बोली लगेगी
रूप ?
टूटा पड़ा है

पर वहां जाने के लिए सेतु है ?

क्या कहा ?
घर ही रख आए विनय ?
तो व्यर्थ ही आए
बंधु !
चलो, लौट चलो
यहां विनम्रियों के ही सेतु हुआ करते हैं।

— **नरेश मेहता**

मैं सोचता हूं कि धर्म के आचरण से यदि आदमी का स्वभाव न बदलता हो, बुरी आदतें न बदलती हों तो धर्म का आचरण व्यर्थ है। ऐसे धर्म का आचरण क्यों किया जाए? क्या प्रयोजन है उसका? हमारे सामने कोई प्रयोजन तो होना चाहिए। अधर्म को छोड़ें, बहुत सारी बातों का नियंत्रण करें और उपलब्ध कुछ भी न हो तो दोनों ओर से गए, न इधर के रहे, न उधर के रहे—'नो हव्वाए नो पाराए।'

धम्मो दीवो पइट्ठाणं

□ आचार्यश्री महाप्रज्ञ □

मनुष्य धर्म की शरण में आना चाहता है। धर्म में शरण देने की क्षमता है। 'धम्मो दीवो पइट्ठाणं'। धर्म एक दीप है, प्रकाशपुंज है, एक प्रतिष्ठा है, आधार है, एक गति है। शरण देने वाले और भी अनेक हो सकते हैं, पर यह उत्तम शरण है, जो हमें त्राण देता है। आदमी अधर्म से बचना चाहता है और धर्म की शरण में आना चाहता है। इसका अभिप्राय है—रूपांतरण, बदलाव। अधर्म के जीवन में जो हासिल नहीं होता, उसे प्राप्त करने के लिए और जो प्राप्त होता है, उसे छोड़ने के लिए वह धर्म की शरण में आता है। बुरी आदतें, बुरे विचार, भय, घृणा, ईर्ष्या, चिंता, व्यग्रता और मानसिक तनाव—ये सारे अधर्म के जीवन में देखे जा सकते हैं, आदमी इन्हें छोड़ना चाहता है। मन की शांति, तनावमुक्ति, प्रेम, मित्रता, सबके साथ सौजन्यपूर्ण व्यवहार, उदारता और सौहार्द—इन सबको हर मनुष्य पाना चाहता है। इसलिए वह धर्म की शरण में आता है।

धर्म की शरण मिले और आदमी बदले नहीं, यह एक प्रश्नचिह्न है हमारे समक्ष। धर्म की शरण मिले और कुछ भी न बदले तो मानना चाहिए कि कहीं कोई त्रुटि अवश्य है। या तो धर्म उपलब्ध नहीं हुआ या व्यक्ति धर्म को उपलब्ध नहीं हुआ। कहीं न कहीं कोई त्रुटि अवश्य है। इस प्रश्न पर हम विचार करें। जिसके जीवन में धर्म के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं उसमें तेजो-लेश्या, पद्म-लेश्या और शुक्ल-लेश्या के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं। धर्म की यात्रा शुरू होती है और लेश्याओं के भाव, विचार और व्यवहार हमारे जीवन में मूर्त बनने लग जाते हैं—

'औदार्यं दाक्षिण्यं पापजुगुप्सा च निर्मलो बोधः।
लिंगानि धर्मसिद्धे प्रायेण जनप्रियत्वं च।।'

जिसके जीवन में धर्म सिद्ध होता है, उसमें ये लक्षण प्रकट होते हैं—

तर्क शास्त्र का एक नियम है कि लिंग के द्वारा लिंगी को जाना जाता है, साधन के द्वारा साध्य को जाना जाता है। धुएं को देखकर व्यक्ति अग्नि का अनुमान करता है। वैसे ही उपर्युक्त लक्षणों को देखकर जान लिया जाता है कि अमुक आदमी में धर्म सिद्ध हो चुका है।'जिस व्यक्ति में उदारता है, दाक्षिण्य है—हर बात को अनुकूलता से स्वीकार करता है, पापजुगुप्सा है, दूसरों की बुरी आदतों के प्रति ही घृणा नहीं, अपनी बुरी आदतों के प्रति भी घृणा है—उसका ज्ञान इतना निर्मल होता है कि हर बात सत्यपूर्ण ही निकलती है, उसके मुंह से कभी झूठी बात नहीं निकलती। वह जो सोचता है, जो भाव करता है ज्ञान की प्रत्येक रश्मि, प्रत्येक धारा निर्मलता के साथ प्रवाहित होती है—ये लक्षण बताते हैं कि व्यक्ति में धर्म सिद्ध हो गया है।

लेश्या के परिवर्तन के द्वारा ही जीवन में धर्म सिद्ध हो सकता है। जब कृष्ण, नील और कपोत—ये तीन लेश्याएं बदल जाती हैं और तेजो, पद्म और शुक्ल— ये तीन लेश्याएं अवतरित होती हैं, तब

परिवर्तन घटित होता है। लेश्याओं के बदले बिना जीवन नहीं बदल सकता। लेश्याएं कोरी जानने की नहीं हैं, यह कोरा तत्त्वज्ञान नहीं है, बदलाव के सूत्र हैं। ये रटने के सूत्र नहीं, अभ्यास के सूत्र हैं।

जिस तरह दर्शन कोरा ज्ञान देता है जीवन को परिवर्तित नहीं करता, रूपांतरित नहीं करता, उसी तरह दुर्भाग्य से आज धर्म का रूप भी लगभग ऐसा ही हो गया है। व्यक्ति जीवन भर धर्म का आचरण करता है, पर मौत के समय उसका लेखा-जोखा किया जाए तो परिणाम शून्य आता है। जीवन में कोई परिवर्तन घटित नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में जो विचार बनते हैं, वे अस्वाभाविक नहीं लगते कि धर्म केवल प्रियता की अनुभूति देता है, कोरा ज्ञान देता है, व्यक्ति को बदलता नहीं है। किंतु यह सचाई धर्म के आवरण की सचाई है, धर्म की सचाई नहीं है। यह केवल धर्म की चमड़ी की सचाई है, धर्म की आत्मा की सचाई नहीं है। धर्म की सचाई यह है कि जो धार्मिक होगा वह निश्चित ही बदलेगा। यह हो नहीं सकता कि धार्मिक हो, धर्म का आचरण करता हो और पहले से न बदला हो। धार्मिक होने का अर्थ ही है परिवर्तन की यात्रा पर चल पड़ना, रूपांतरण की ओर प्रस्थान कर देना। यहां से तेजो-लेश्या की यात्रा शुरू हो जाती है, अध्यात्म की यात्रा शुरू हो जाती है। जब तेजो-लेश्या की यात्रा प्रारंभ होती है तब अध्यात्म के स्पंदन जग जाते हैं। जब अध्यात्म के स्पंदन जगते हैं, तब परिवर्तन अपने आप शुरू हो जाता है। ऐसे सुखद स्पंदन जगते हैं कि उनका जीवन में पहले जैसे कभी अनुभव ही नहीं हुआ हो। बहुत बड़ी भ्रांति टूट जाती है। व्यक्ति ने मान ही रखा था कि सुख पदार्थ से ही उपलब्ध होता है। तेजो-लेश्या के स्पंदन जैसे ही जगते हैं, जैसे ही दर्शन-केंद्र पर ध्यान केंद्रित होता है और चमकीले स्पंदन जगते हैं, तब जो सुख का अनुभव होता है वह अपूर्व होता है। व्यक्ति की भ्रांति टूट जाती है। वह सोचता है—मैंने मान ही रखा था कि सुख तो पदार्थ से ही मिलता है, किंतु आज यह स्पष्ट अनुभव हो रहा है कि जैसा सुख दर्शन-केंद्र के जगने पर अनुभूत होता है वैसा सुख जीवन में किसी भी पदार्थ से नहीं मिला। सारी धारणाएं बदल जाती हैं, सारी यात्रा बदल जाती है और स्वभाव का परिवर्तन प्रारंभ हो जाता है। मैं सोचता हूं कि धर्म के आचरण से यदि आदमी का स्वभाव न बदलता हो, बुरी आदतें न बदलती हों तो धर्म का आचरण व्यर्थ है। ऐसे धर्म का आचरण क्यों किया जाए? क्या प्रयोजन है उसका? हमारे सामने कोई प्रयोजन तो होना चाहिए। अधर्म को छोड़ें, बहुत सारी बातों का नियंत्रण करें और उपलब्ध कुछ भी न हो तो दोनों ओर से गए, न इधर के रहे, न उधर के रहे—'नो हव्वाए नो पाराए।'

व्यक्तित्व को रूपांतरित करने की सबसे बड़ी प्रक्रिया है—प्रेक्षा-ध्यान। प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा हमारा पूरा व्यक्तित्व बदल सकता है। अनजाने बदलता है। हम केवल एक लक्ष्य का निर्धारण करते हैं, एक ध्येय की प्रतिमा को निर्मित करते हैं कि मन को निर्मल करना है, मन की मलिनता से होने वाली बुरी आदतों को छोड़ना है, इस प्रतिमा का निर्माण कर हम प्रेक्षा-ध्यान में बैठते हैं। शरीर की प्रेक्षा करते हैं, दीर्घश्वास की प्रेक्षा करते हैं, चैतन्य-केंद्रों की प्रेक्षा करते हैं और धीरे-धीरे रूपांतरण घटित होने लगता है। हमें पता ही नहीं लगता, अपने आप बदलाव शुरू हो जाता है। पता लगना ज्ञान की बात है। ज्ञान हो तो पता लग सकता है। ज्ञान न हो तो पता नहीं लग सकता। पता लगे या न लगे, बदलना प्रारंभ हो जाता है। ज्ञान होना एक बात है और बदलना दूसरी बात है।

प्रेक्षा-ध्यान की साधना करने वाले व्यक्तियों में कल्पनातीत रूपांतरण हुआ है। हमें भी ज्ञात नहीं हुआ कि रूपांतरण क्यों हुआ और ऐसे व्यक्तियों को भी ज्ञात नहीं हुआ कि रूपान्तरण क्यों हुआ?

आदमी को बुरी आदतों से कैसे मुक्त किया जाए—यह चिंता आज सारी दुनिया के लोग कर रहे हैं। प्राचीन समय में बुरी आदतों से छुटकारा दिलाने की चिंता केवल धार्मिक लोग ही करते थे। आज यह चिंता सब क्षेत्रों के लोग करते हैं। राजनीतिक भी करते हैं, वैज्ञानिक भी करते हैं, डॉक्टर भी करते हैं, धार्मिक भी करते हैं—सब लोग करते हैं। वैज्ञानिकों के सामने एक प्रश्न आया कि आदमी को तंबाकू की आदत से कैसे मुक्त किया जाए? उन्होंने सत्तर आदमी चुने। उनके कानों पर एक्यूपंक्चर का प्रयोग किया गया। कान के तीन भाग हैं—एक है भीतर का भाग, एक है मध्य का भाग, एक है बाहर का भाग। वैज्ञानिकों ने आदमी के कान के मध्य भाग में, जहां जैविक सक्रिय बिंदु थे, वहां सूइयां चुभोईं। पांच दिन तक यह प्रयोग चला। इसका परिणाम यह आया कि सत्तर व्यक्तियों में से पचास व्यक्तियों ने तंबाकू पीना सर्वथा छोड़ दिया। शेष बीस व्यक्तियों ने पीना कम कर दिया। इसका निष्कर्ष यह निकाला गया कि बहिष्कर्ण के जैविक बिंदुओं पर यदि सूई चुभोई जाए तो व्यक्ति के मन में तंबाकू के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है।

प्रेक्षा-ध्यान स्वभाव-परिवर्तन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। केवल यही एक प्रक्रिया नहीं है, और भी प्रक्रियाएं हैं। प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति में तीन तत्त्व मुख्य हैं—प्रेक्षा, भावना और अनुप्रेक्षा। ये तीन मुख्य तत्त्व हैं। हम केवल प्रेक्षा का ही प्रयोग नहीं कर रहे हैं, केवल दर्शन-शक्ति का ही प्रयोग नहीं कर रहे हैं, हम साथ-ही-साथ भावना का भी प्रयोग कर रहे हैं

और अनुप्रेक्षा का भी प्रयोग कर रहे हैं। भावना का प्रयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है परिवर्तन के लिए। बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन है। आज के बहुत सारे मनोवैज्ञानिक आत्म-सम्मोहन या परा-सम्मोहन के द्वारा अनेक प्रकार की जटिलतम आदतों को बदलने में सफल हुए हैं। इस दिशा में बहुत साहित्य भी निर्मित हुआ है। भावना का प्रयोग आत्म-सम्मोहन या आत्म-संशन का प्रयोग है।

महावीर ने कहा—जो साधक भावनायोग से शुद्धात्मा बन जाता है वह जल में नौका की तरह हो जाता है—भावनायोगसुद्धप्पा, जले न...भावना के आधार पर व्यक्ति संसार समुद्र को तर जाता है। भावना के योग से बुरी आदतों से मुक्त हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है।

भारतीय साहित्य में आत्म-संशन का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है। इसके प्रयोग होते रहते हैं। वैदिक साहित्य में इसका एक प्रसंग इस प्रकार है—

मेरे मुंह में वाक् सदा स्फूर्त रहे। मेरी नसों में प्राण सदा प्रवाहित रहे। मेरी आंखों में देखने की शक्ति रहे। मेरे कानों में सुनने की शक्ति बनी रहे। इस प्रकार के आत्म-संशन के द्वारा प्राचीन ऋषि अपनी शक्तियों का विकास करते थे और अपनी शक्तियों को बनाए रखते थे, जीवित रखते थे। वे सौ वर्ष तक जीने में सफल हो जाते थे।

आदमी की अकालमृत्यु का एक कारण है—हीन-भावना। जब आदमी हीन-भावना से ग्रस्त होता है, तब वह अपनी सारी शक्तियों को खो बैठता है। आत्म-संशन बहुत सक्रिय तत्त्व है। अपनी शक्तियों को सूचित करना, जागृत करना और जीवित रखना—यह आत्म-संशन का एक प्रकार है। अपनी शक्तियों के प्रति मूर्च्छित हो जाना, उदासीन हो जाना, हीन-भावना से ग्रस्त हो जाना—यह भी आत्म-संशन का एक प्रकार है। दोनों का अपना-अपना प्रभाव होता है।

व्यक्ति का एक स्तर है—चेतना का, लेश्या का या भावना का। जब उस स्तर तक कोई बात चली जाती है, तैजस-शरीर—शारीरिक विद्युत् तक कोई बात चली जाती है, वहां वह घटित होने लगता है—जो चाहा जाता है। पदार्थ ही प्रभावित नहीं करता, किंतु पदार्थ के साथ जाने वाली चेतना भी प्रभावित करती है। चेतना के स्तर पर जिस बात को हम पकड़ लेते हैं, हमारे जीवन में वही घटित होने लग जाता है। सचमुच घटित हो जाता है।

डॉक्टरों ने एक प्रयोग किया। एक स्वस्थ आदमी था। एक डॉक्टर आया। उसकी नब्ज देखकर कहा—'अरे! तुम्हें तो ज्वर हो गया है।' वह घर से बाहर निकला। दूसरा डॉक्टर रास्ते में मिला। उसने कहा—'यह क्या, लगता है तुम्हें ज्वर हो गया है।' आगे चला। एक तीसरा डॉक्टर मिला। उसने कहा—'अरे भाई! तुम्हें ज्वर कब से हो गया है?' वह व्यक्ति घबरा गया। वह घर गया। अपने घरेलू डॉक्टर को बुलाया। डॉक्टर आया। उसने कहा—'बुखार हो गया है।' बुखार बढ़ता ही गया। वह 104 डिग्री तक पहुंच गया। व्यक्ति घबरा गया। यह तो आत्म-संशन का प्रयोग था। प्रयोग का चक्का घूमा। नया डॉक्टर आया, उसने सारी परीक्षा कर कहा—'अरे! किसने कहा तुम्हें ज्वर है? तुम तो स्वस्थ हो। तुम्हारी नाड़ी स्वस्थ है। बुखार नहीं है। जिसने बुखार बतलाया वह डॉक्टर पागल था। तुम चिंता मत करो। कोई ज्वर नहीं है। तुम ज्वर की बात को मन से निकाल दो।' कुछ घंटों बाद परीक्षण किया गया। बुखार नहीं था।

बुखार आ जाता है, बुखार चला जाता है, बिना बीमारी के। बिना घटना के क्रोध आ जाता है, क्रोध चला जाता है। स्थानांग सूत्र में क्रोध की उत्पत्ति के कई कारण बताए गए हैं। उनमें एक है—पर-हेतुक क्रोध और एक है—आत्म-हेतुक क्रोध। एक है—दूसरे के निमित्त से आने वाला क्रोध और एक है—अपने आप आने वाला क्रोध। मन में इस प्रकार का भाव निर्मित हुआ कि क्रोध फूट पड़ा, क्रोध उभर आया। कारण कोई बाह्य नहीं है—अपने ही निमित्त से आने वाला क्रोध है। इसी प्रकार बिना किसी बाहरी निमित्त के अपने ही निमित्त से अभिमान भी आता है, कपट और भय भी आता है, घृणा भी आती है। अपने आप होने वाले भय से हम बहुत परिचित हैं। आप बैठे हैं। विचारों का प्रवाह चलता है। अचानक ऐसे विचार उभरते हैं कि व्यक्ति भयंकर रूप से डरने लग जाता है। वह शारीरिक दृष्टि से प्रताड़ित जैसा हो जाता है। हमारे भीतरी जगत में घटित होने वाली घटनाएं बड़ी विचित्र हैं। हम केवल बाहरी निमित्तों से ही प्रभावित नहीं होते। बाहर के विषाणु आते हैं, हम बीमार पड़ जाते हैं—ऐसा ही नहीं है। बिना बाहरी विषाणुओं के भी हम बीमार हो जाते हैं। हमारे भीतर भी बीमारी के अनेक निमित्त हैं। होमियोपैथी के प्रवर्तक डॉ. हनीमेन ने कहा था—'बीमारी की जड़ में कीटाणु नहीं, बीमारी की जड़ हमारे बहुत गहरे में है।' यथार्थ में बीमारी की जड़ें लेश्याओं में हैं। जब तक लेश्या शुद्ध रहेगी, आदमी कभी बीमार नहीं होगा। जब-जब लेश्या विकृत होती है, आदमी बीमार होना शुरू हो जाता है। शरीर में तो बीमारी की अभिव्यक्ति मात्र होती है। बाहरी विषाणु मिलते हैं, तो वे भी बीमारी के निमित्त बन जाते हैं। बाहरी विषाणु न भी मिलें, तो भी बीमारी व्यक्त हो जाती है।

साधना में भावना का बहुत महत्त्व है। बुरी आदतों की जड़ों को उखाड़ डालने का यह एक सशक्त माध्यम है। इसके द्वारा पुरानी आदतें मिटती हैं और नई आदतों का निर्माण होता है। भावना दोनों काम करती है—ध्वंस भी करती है और निर्माण भी करती है। बुरी आदतों के बदलने और नई आदतों के निर्माण का बिंदु है—लेश्या-तंत्र, भाव-तंत्र, वहां रूपांतरण घटित होता है—क्योंकि लेश्या के पास तैजस की शक्ति है, विद्युत की शक्ति है। विद्युत की शक्ति के बिना इतना बड़ा परिवर्तन नहीं हो सकता। आज का सारा वैज्ञानिक.चमत्कार विद्युत पर आधारित है। यदि विद्युत समाप्त हो जाए तो सब कुछ धराशाई हो जाएगा। तैजस-शरीर में जो क्षमता है, जो विद्युत है उसके द्वारा ही जीवन-तंत्र का सारा परिवर्तन घटित होता है। लेश्या के पास विद्युत की यह बहुत बड़ी शक्ति है। तैजस-शरीर और लेश्या की चेतना—ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। दोनों सहकारी हैं। दोनों साथ मिलकर काम करते हैं। इसलिए परिवर्तन घटित करने के लिए लेश्या पर ध्यान देना होता है। उसमें सम्मोहन का भी बहुत बड़ा हाथ है। इसका कारण स्पष्ट है कि हम जिस चेतना के स्तर पर प्रभावित होते हैं, वह चेतना है लेश्या। यहीं हम प्रभावित होते हैं—दूसरों के द्वारा, बाहरी स्रावों से और भीतरी स्रावों से। यह प्रभावित होने का जो विद्युत-चुंबकीय क्षेत्र हमारे शरीर में है, वह है लेश्या। सम्मोहन का प्रभाव यहीं होता है। इसीलिए भावना का महत्त्व है। भावना, सम्मोहन, मंत्र—ये सारे एक ही कोटि में आते हैं। जप क्या है? एक ही बात को बारबार दोहराना। बार-बार दोहराते-दोहराते वह बात भीतर तक पहुंच जाती है। और मंत्र क्या है? यही तो है मंत्र। हम मंत्र का जप करते हैं, मंत्र की आराधना करते हैं और मंत्र के द्वारा हमारी प्राणधारा, ऊर्जा भीतर की तैजस-ऊर्जा तक पहुंच जाती है। जब तक वहां नहीं पहुंचती, मंत्र का जागरण नहीं होता। मंत्र के जागरण बिना, मंत्र के चैतन्य हुए बिना मंत्र कोई काम नहीं कर सकता। वही मंत्र फल देता है तो जागृत है, चेतनावान है। मंत्र-जागरण का अर्थ है—भीतर की तैजस-शक्ति से बाहर की प्राण ऊर्जा को जोड़ देना, उसका एक संबंध स्थापित कर देना।

भावना, आत्म-संशन, जप और मंत्र—ये सारे परिवर्तन के साधन हैं। अब हमें समझना होगा कि भावना का प्रयोग कैसे करें? भावना के प्रयोग की विधि को समझे बिना हम परिवर्तन घटित नहीं कर सकते। हमने यह सिद्धांत रूप से स्वीकार कर लिया कि भावना द्वारा व्यक्तित्व का परिवर्तन हो सकता है, होता है, किंतु प्रश्न है कि वह कैसे होता है? भावना का प्रयोग हम कैसे करें? अपने मन की बात, अपनी स्थूल चेतना की बात को भीतर तक कैसे पहुंचाएं? इस प्रक्रिया को जान लेना आवश्यक है।

इस प्रक्रिया का पहला सूत्र है—कायोत्सर्ग। भावना का प्रयोग करना है तो पहले कायोत्सर्ग करना होगा। कायोत्सर्ग यदि नहीं है—शरीर की प्रवृत्तियों का शिथिलीकरण नहीं है, स्नायविक प्रवृत्तियों का शिथिलीकरण नहीं है तो बात आगे नहीं पहुंच सकती, क्योंकि आगे अवरोध है। स्नायु अवरोध पैदा कर रहे हैं। आगे जाने के लिए रास्ता साफ नहीं है। पहले रास्ते के सारे अवरोध मिटाने होंगे। कायोत्सर्ग इसका साधन है। इसके द्वारा हम समीकरण करते हैं।

जैन योग परंपरा में सर्वाधिक बल कायोत्सर्ग पर दिया है। कायोत्सर्ग हमारे जीवन का अभिन्न अंग है। कायोत्सर्ग करना अनिवार्य है। स्वाध्याय करें तो स्वाध्याय से पूर्व कायोत्सर्ग करें। ध्यान करें तो ध्यान से पूर्व कायोत्सर्ग करें। सोएं तो सोने से पहले कायोत्सर्ग करें। उठें तो उठते ही कायोत्सर्ग करें। प्रतिलेखन करें, अहिंसा की दृष्टि से वस्त्रों का निरीक्षण करें तो निरीक्षण करने से पूर्व कायोत्सर्ग करें और निरीक्षण के बाद कायोत्सर्ग करें। नींद में कोई दुःस्वप्न आ जाए तो तत्काल उठकर कायोत्सर्ग करें। किसी कारणवश या प्रमादवश कोई हिंसा हो जाए, कभी झूठ बोल दिया जाए, कभी अस्वाभाविक या बुरा आचरण हो जाए तो प्रायश्चित के लिए कायोत्सर्ग करें। नदी को पार करें तो कायोत्सर्ग करें। प्रतिक्रमण के प्रारंभ में कायोत्सर्ग करें और प्रतिक्रमण के अंत में कायोत्सर्ग करें। आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, पच्चीस, पचास, सौ, पांच सौ और हजार श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग ही कायोत्सर्ग।

कायोत्सर्ग के बिना मुनि का तो कोई जीवन ही नहीं होता। मुनि स्थान से बाहर जाए। एक किलोमीटर या अधिक जाए, लौटे तो सबसे पहले उसे कायोत्सर्ग करना होता है। फिर ही वह दूसरे काम में लग सकता है। भिक्षा के लिए, शौच के लिए या अन्य किसी प्रयोजन से बाहर जाए तो आते ही सबसे पहले कायोत्सर्ग करें। यह व्यवस्था इसलिए की गई कि यदि हमें किसी बात को भीतर तक पहुंचाना है तो जब तक कायोत्सर्ग नहीं होगा, शरीर का शिथिलीकरण नहीं होगा, स्नायविक अवरोध नहीं मिटेंगे, बात भीतर तक नहीं पहुंच पाएगी। कायोत्सर्ग अत्यंत आवश्यक है। शरीर की प्रवृत्तियों का विसर्जन करें, शिथिलीकरण करें, मांसपेशियों का, हाथों का, पैरों का शिथिलीकरण करें। अध्यात्म की यात्रा कब शुरू हो सकती है? समाधि कब उपलब्ध हो सकती है? इसकी शर्त क्या है? इसकी शर्त है—कोई प्रवृत्ति न करें। हाथ का

संयम करें। प्रश्न होगा कि हाथ-संयम करना कौन-सी बड़ी बात है? हाथ बहुत महत्त्वपूर्ण अवयव है हमारे शरीर का। एक्यूपंक्चर पद्धति के विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे मस्तिष्क में जो चैतन्य-केंद्र, जैविक सक्रिय-बिंदु हैं उनके सभी केंद्र हाथ में भी हैं। हाथ में क्या नहीं है ? जो शरीर में है वह सब हाथ में है। फिर कहा—पैरों का संयम करो। यह और अजीब बात है। क्योंकि हाथ तो फिर भी एक उत्तम अवयव है। पैर शरीर का निम्नतम भाग है। पैर बहुत महत्त्वपूर्ण अवश्य है। पैर के अंगूठे और अंगुली में चैतन्य-केंद्र हैं, ग्लैंड्स हैं। पैर के अंगूठे में पिच्यूटरी ग्लैंड है। पैर के अंगूठे में आंख है, कान है। प्राचीनकाल में यह बताया जाता था कि जब आंख की ज्योति कम हो जाए तो पैर की अंगुलियों पर तेल की मालिश की जाए। यह कहां का संबंध ? ज्योति कम हुई आंख की और तेल मालिश करना होता है पैर की अंगुलियों पर। आज यह बात विचित्र-सी नहीं लगती। जब हमें यह पता लग गया कि पैर की अंगुलियों में आंख हैं, कान हैं, तब ये बातें अनहोनी-सी नहीं लगतीं। आंख और कान का इलाज पैर की अंगुलियों से किया जा सकता है और पिच्यूटरी या पिनियल ग्लैंड का समाधान पैर के अंगूठे से किया जा सकता है।

प्राचीन काल में जैन परंपरा में महाप्राण ध्यान की पद्धति प्रचलित थी। यह ध्यान की महत्त्वपूर्ण पद्धति थी। आचार्य भद्रबाहु ने बारह वर्ष तक महाप्राण ध्यान की साधना की थी। जो महाप्राण ध्यान में जाता है वह संसार से पूर्ण रूप से विलग हो जाता है। कोई संपर्क नहीं रहता। सारे बाह्य संपर्क टूट जाते हैं। साधक गहरी समाधि की अवस्था में चला जाता है। यदि परिस्थितिवश साधक को अवधि से पहले सचेत करना होता है तो उसका एकमात्र उपाय है—पैर के अंगूठे को दबाना।

आचार्य पुष्यमित्र महाप्राण-ध्यान की साधना में लगे। एक शिष्य उनकी देखरेख के लिए नियुक्त था। कुछ दिन बीते। किसी को पता नहीं था कि आचार्य विशिष्ट साधना में संलग्न हैं। ऊहापोह होने लगा। कुछ शिष्यों ने सोचा—इसने आचार्य को मार डाला है। ऊहापोह बढ़ा। राजा तक यह बात गई। राजा आया। उत्तर साधक से पूछताछ की। उसने कहा—'आचार्य विशिष्ट साधना में संलग्न हैं। अभी साधना का काल पूरा नहीं हुआ है।' राजा ने कहा—'मैं अभी आचार्य से मिलना चाहता हूं। आवश्यक काम है।' उत्तर साधक अन्दर गया। आचार्य के पैर के अंगूठे को दबाया। आचार्य सचेत हो गए। उन्होंने कहा—'असमय में कैसे उठा दिया ?' उत्तर साधक बोला—'ऐसा ही घटना-चक्र घटित हो गया। मैं क्या करूं ?'

प्रश्न हो सकता है कि अंगूठे का और ध्यान का क्या संबंध हो सकता है? हमारे में समाधि घटित होती है—दर्शन-केंद्र और ज्योति-केंद्र में गहराई में जाने पर। अंगूठे में दोनों केंद्र हैं। यह सुंदर स्थान है। यह सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का संगम-बिंदु है। यह इड़ा और पिंगला का संगम-स्थल है। जो व्यक्ति यहां पहुंच जाता है, समाधि घटित हो जाती है। साधक महाप्राण की स्थिति में चला जाता है। इस केंद्र को हमें जागृत करना है।

हाथ और पैर बहुत ही महत्त्व के केंद्र हैं। पांव को निकम्मा न मानें। जब हम भूमि पर चलते हैं, तब एड़ी विद्युत ग्रहण कर सारे शरीर को पहुंचाती है। कितना महत्त्वपूर्ण काम है!

जब हाथ का संयम—हाथ का शिथिलीकरण, पैर का संयम—पैर का शिथिलीकरण, वाणी का संयम—वाणी का शिथिलीकरण घटित होता है, तब इंद्रियों के तनाव कम हो जाते हैं। उनमें उठने वाली आकांक्षाओं की तरंगें कम हो जाती हैं। जब यह सब घटित होता है, तब अध्यात्म-रमण या अध्यात्म की यात्रा शुरू होती है। जब अध्यात्म की यात्रा शुरू होती है, तब आत्मा समाधि में चली जाती है।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि समाधि में जाने के लिए, अध्यात्म की यात्रा शुरू करने के लिए, आदतों को बदलने के लिए सबसे पहली शर्त है—कायोत्सर्ग। जब तक हम कायोत्सर्ग करना नहीं सीख लेते, तब तक ये सब घटित नहीं हो सकते। ❖

जो परिस्थिति के बहाव में ही बहता है, थोड़े में प्रसन्न और

थोड़े में अप्रसन्न हो जाता है, उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता।

मन सम होता है तो विषम भी सम हो जाता है और मन विषम होता है तो सम भी विषम हो जाता है।

—**'चिंतन के परिमल'** से

कुछ लोगों का मत है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का शरीर और मन पर अनुकूल प्रभाव नहीं होता। इस मत में सचाई का अंश भी है, पर उसी स्थिति में जब ब्रह्मचर्य का पालन केवल विवशता की परिस्थिति में हो। चिंतन के प्रवाह को काम-वासना की लहरों से मोड़कर अन्य उदात्त भावनाओं की ओर ले जाया जाए तो ब्रह्मचर्य स्ववशता की परिस्थिति में विकास पाता है। वह शरीर और मन की सूक्ष्मतम स्थितियों पर बड़ा लाभदायी प्रभाव डालता है।

अहिंसा-ब्रह्मचर्य : दैहिक विमर्श

□ आचार्यश्री तुलसी □

महर्षि पतंजलि ने जिस अष्टांग योग का प्रतिपादन किया है उसमें पहला अंग यम है, लेकिन जैन साधना पद्धति का पहला अंग महाव्रत है। महाव्रतों को मूल गुण और शेष साधना के अंगों को उत्तर गुण माना जाता है। महाव्रतों के होने पर अन्य साधना के अंग विकसित हो सकते हैं। इनके न होने पर वे विकसित नहीं हो सकते। इसीलिए महाव्रत मूल गुण हैं। सुदृढ़ आधार के बिना भवन की मंजिलों की कल्पना नहीं की जा सकती। वैसे ही मूल गुणों का स्थिर अभ्यास किए बिना धारणा, ध्यान और समाधि की कल्पना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से साधना के प्रसंग में महाव्रतों का प्रथम स्थान है।

महाव्रत के पांच प्रकार हैं : 1. अहिंसा 2. सत्य 3. अस्तेय 4. ब्रह्मचर्य 5. अपरिग्रह। इनमें मुख्य स्थान अहिंसा का है। शेष सब उसी के विस्तार हैं। अहिंसा के दो रूप होते हैं : 1. संकल्पकृत अहिंसा 2. सिद्ध अहिंसा।

साधना के आरंभ में साधक अहिंसा का संकल्प स्वीकार करता है। इसमें मानसिक भूमिका सुपरिपक्व नहीं होती इसलिए बार-बार उतार-चढ़ाव आता रहता है। हिंसा के संस्कार पुनःपुनः उद्दीप्त होते रहते हैं। किंतु अहिंसा का संकल्प तथा उसकी सिद्धि का लक्ष्य होने के कारण साधक उस स्थिति का अनुभव करता हुआ भी आगे की ओर बढ़ता चला जाता है। वह निराश होकर न पीछे लौटता है और न रुकता है। आंतरिक शुद्धि का अभ्यास करते-करते जब कषाय क्षीण होता है तब अहिंसा सिद्ध हो जाती है। उस स्थिति में साधक के मन में समता का पूर्ण विकास होता है। उसके मन में फिर शत्रु और मित्र का भेद नहीं रहता। जीवन के प्रति अनुराग और मृत्यु का भय नहीं रहता। हीन और उत्कर्ष की भावना समाप्त हो जाती है। निंदा से ग्लानि और प्रशंसा से उत्फुल्लता नहीं होती। मान और अपमान से उसका मानसिक संतुलन नहीं बिगड़ता। उसमें सहज संयम विकसित होता है। और उसमें सब जीवों को आत्मतुल्य समझने की प्रज्ञा प्रकट हो जाती है।

अहिंसा के साथ-साथ व्यक्ति में ऋजुता प्रकट होती है, यही उसका सत्य पक्ष है। अहिंसा से अपनी मर्यादा का विवेक जागृत होता है, इसलिए अहिंसक व्यक्ति दूसरों के स्वत्व का अपहरण नहीं करता, यही उसका अचौर्य पक्ष है। अहिंसक व्यक्ति अपने इंद्रिय और मन पर अधिकार स्थापित करता है, यही उसका ब्रह्मचर्य पक्ष है। अहिंसक व्यक्ति आत्मलीन रहता है। वह बाह्य वस्तुओं में आसक्त नहीं होता, यही उसका अपरिग्रह पक्ष है। अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का आध्यात्मिक मूल्य असीम होता है।

ब्रह्मचर्य दो भागों में विभक्त है : 1. संकल्पसिद्ध ब्रह्मचर्य, 2. सिद्ध ब्रह्मचर्य।

सिद्ध ब्रह्मचर्य की भूमिका तक पहुंचना हमारा लक्ष्य है। शास्त्रों में 'घोरबंभयारी' शब्द आता है। वह एक विशेष प्रकार की लब्धि (योगज शक्ति) है। वह दीर्घकालीन साधना से उपलब्ध होती है। राजवार्तिक के अनुसार जिसका वीर्य स्वप्न में भी स्खलित न हो, वह घोर ब्रह्मचारी है। जिसका मन स्वप्न में भी अणुमात्र विचलित नहीं होता, उसे घोर ब्रह्मचर्य की लब्धि प्राप्त होती है। शुभ संकल्पों और साधना के

द्वारा इस भूमिका तक पहुंचा जा सकता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—मैथुन विरति या सर्वेंद्रियोपरम। असत्य, चोरी आदि का संबंध मुख्यतः मानसिक भूमिका से है। ब्रह्मचर्य दैहिक और मानसिक दोनों भूमिकाओं से संबंधित है। अतः उसकी पालना के लिए शरीरशास्त्रीय ज्ञान भी आवश्यक है। उसके अभाव में ब्रह्मचर्य को समझने में भी कठिनाई होती है।

अब्रह्मचर्य के दो कारण हैं : 1. मोह, 2. शारीरिक परिस्थिति।

व्यक्ति जो कुछ खाता है, उसके शरीर में प्रक्रिया चलती है, उसकी पहली परिणति रस है। वह शोणित आदि धातुओं में परिणत होता हुआ सातवीं भूमिका में वीर्य बनता है। उसके बाद वह ओज के रूप में शरीर में व्याप्त होता है। ओज केवल वीर्य का ही सार नहीं है। वह सब धातुओं का सार है। शरीर में अनेक नाड़ियां हैं। उनमें एक काम-वाहिनी नाड़ी है। उसका स्थान पैर के अंगूठे से लेकर मस्तिष्क के पिछले भाग तक है। काम-वासना को मिटाने के लिए जो आसन किए जाते हैं, उन आसनों से इसी नाड़ी पर नियंत्रण किया जाता है। खाने से वीर्य बनता है। वह रक्त के साथ भी रहता है और वीर्याशय में भी जाता है। वीर्याशय में अधिक वीर्य जाने से अधिक उत्तेजना होती है और काम-वासना भी अधिक जागती है। ब्रह्मचारी के लिए यह एक कठिनाई है कि वह जीते-जी खाना नहीं छोड़ सकता। जो खाता है, उसका रस आदि भी बनता है, वीर्य भी बनता है। वह अंडकोश में जाकर संगृहीत भी होता है और वह वीर्याशय में भी जाता है। योगियों ने इस समस्या पर विचार किया कि इस परिस्थिति को विवशता माना जाए या इस पर नियंत्रण पाने का कोई उपाय ढूंढ़ा जाए? उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया— वीर्य केवल वीर्याशय में जाएगा तो पीछे से चाप पड़ने से आगे का वीर्य बाहर निकलेगा, फिर दूसरा आएगा और वह भी खाली होगा। खाली होना और भरना यही क्रम रहेगा तो शरीर के अन्य तत्त्वों को पोषण नहीं मिलेगा। इसलिए उन्होंने वीर्य को मार्गांतरित करने की पद्धति खोज निकाली। मार्गांतरण के लिए ऊर्ध्वाकर्षण की साधना का विकास किया। उनका प्रयत्न रहा कि वीर्य वीर्याशय में कम जाए और ऊपर सहस्रार चक्र में अधिक जाए। इस प्रक्रिया में वे सफल हुए। वीर्य को ऊर्ध्व ले जाने से वे ऊर्ध्वरिता बन गए।

वीर्याशय पर चाप पड़ने का एक कारण आहार है। ब्रह्मचर्य के लिए आहार का विवेक अत्यंत आवश्यक है। अतिमात्र आहार और प्रणीत आहार दोनों वर्जनीय हैं। गरिष्ठ आहार नहीं पचता इसलिए वह कब्ज करता है। मलावरोध होने से कुवासना जागती है और वीर्य का क्षय होता है, इसलिए पेट भारी रहे उतना मत खाओ और प्रणीत आहार मत करो। संतुलित आहार करो, जिससे पेट साफ रहे। खाना जितना आवश्यक है, उससे कहीं अधिक आवश्यक है मलशुद्धि। मल के अवरोध से वायु बनता है। वायु जितना अधिक बनेगा उतना ही अहित होगा। वायु-विकार से अधिक बचो। वीर्य का जब अधिक चाप होता है तब ब्रह्मचर्य के प्रति संदेह उत्पन्न हो जाता है।

उत्तराध्ययन में कहा गया है—बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा व समुप्पज्जिज्जा भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायं कं हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा।

शंका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है, भेद होता है, उन्माद होता है, दीर्घकालिक रोग और आतंक भी हो जाता है तथा केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए कुछ एक साधनों की सूचना दी जाती है। उनका अभ्यास किया जाए तो वह निश्चित परिणाम लाएगा। इनमें पहला साधन वीर्य-स्तंभ प्राणायाम है। इसका दूसरा नाम ऊर्ध्वाकर्षण प्राणायाम भी है। सिद्धासन में बैठकर पूर्ण रूप से रेचन करें। रेचनकाल में चिंतन करें कि मेरा वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर में व्याप्त हो रहा है। फिर पूरक करें, जालंधरबंध और मूलबंध करें। पूरक काल में पेट को सिकोड़ें और फुलाएं। सिकोड़ने और फुलाने की क्रिया को पांच-सात पूरकों में सौ बार दोहराएं।

दूसरा ध्यान है। तीसरा अल्पकालीन कुंभक है। चौथा प्रति-संलीनता है।

इंद्रियां चंचल होती हैं पर वह उनकी स्वतंत्र प्रवृत्ति नहीं है। मन से प्रेरित होकर ही वे चंचल बनती हैं। मन जब स्थिर और शांत होता है, तब वे अपने आप स्थिर और शांत हो जाती हैं। मन अंतर्मुखी बनता है, तब इंद्रियां अंतर्मुखी हो जाती हैं। महर्षि पतंजलि ने इसी आशय से लिखा है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।
—पातंजल योगदर्शन—साधनपाद, 54

अपने विषयों के असंप्रयोग में चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करना इंद्रियों का प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार के स्थान पर जैन आगमों में प्रतिसंलीनता का उल्लेख है। औपपातिक सूत्र में इंद्रिय प्रतिसंलीनता के पांच प्रकार बतलाए गए हैं।

इंद्रिय प्रतिसंलीनता के दो मार्ग हैं—विषय-प्रचार का निरोध और राग-द्वेष का निग्रह। आंखों से न देखें—यह

विषय-प्रचार का निरोध है। विषय के साथ संबंध स्थापित हो जाए वहां राग-द्वेष न करना, राग-द्वेष-निग्रह है। प्रतिसंलीनता का अर्थ है—अपने आप में लीन होना। इंद्रियां सहजतया बाहर दौड़ती हैं, उन्हें अंतर्मुखी बनाना प्रतिसंलीनता है। उसकी प्रक्रिया यह है—

कोई आकार सामने आए तो उसकी उपेक्षा कर भीतर में देखा जाए, वैसे ही भीतर में सुना जाए, सूंघा जाए, स्वाद लिया जाए और स्पर्श किया जाए। प्रतिसंलीनता के लिए कुंभक की आवश्यकता होती है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—दाएं नथुने से श्वास भरें। कुछ देर रोककर अंतःकुंभक करें। फिर बाएं नथुने से श्वास को बाहर निकाल दें। कुछ देर बाह्य कुंभक करें। इस प्रकार एक बार कुंभक होता है। प्रतिदिन बारह-तेरह बार इसका अभ्यास करना चाहिए।

वीर्य की उत्पत्ति समान वायु से होती है। उसका स्थान नाभि है। इसलिए कुंभक के साथ नाभि पर ध्यान करें। पूरक करते समय संकल्प करें कि वीर्य नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क में जा रहा है। संकल्प में ऐसी दृढ़ता लाएं कि अपनी कल्पना के साथ वीर्य ऊपर चढ़ता दिखाई देने लगे। चाप में भी सहस्रार-चक्र पर ध्यान कर संकल्प करें कि नीचे खाली हो रहा है और ऊपर भर रहा है। वीर्य नीचे से ऊपर जा रहा है। ऐसा करने से वीर्य का चाप वीर्याशय पर नहीं पड़ेगा। फलतः उसके चाप से होने वाली मानसिक उत्तेजना से सहज ही बचाव हो जाएगा। इस विषय में यौन-शास्त्रियों के अभिमत भी मननीय हैं।

विज्ञानविशारद स्कॉट हाल का मत है—अंड और डिंब ग्रंथियों के अंतःस्राव जब रक्त के साथ मिलकर शरीर के विभिन्न अंगों में प्रवाहित होते हैं तो वे युवक और युवती के सर्वांगीण विकास में जादू की तरह नव-जीवन का प्रभाव छोड़ते हैं।

हेलेनाराइट ने इसके लिए बड़ा उपयोगी मार्ग बतलाया है—आत्म-विकास के लिए कोई एक कार्य अपना लेना चाहिए और एकाग्रचित्त से दिन में कई बार यह सोचना चाहिए कि जननेंद्रिय में केंद्रित प्राणशक्ति सारे स्नायुमंडल में प्रवाहित होकर अंग-प्रत्यंग को पुष्ट कर रही है। थोड़े समय में ही इस मानसिक सूचना से तन और मन नए चैतन्य से स्फूर्त एवं प्रफुल्ल हो उठेंगे।

इन साधनों के अतिरिक्त शास्त्रों का अध्ययन, मनन, चिंतन, व्युत्सर्ग आदि साधन भी मन को एकाग्र करने में सहायक होते हैं। ब्रह्मचर्य के लिए केवल मानसिक चिंतन ही पर्याप्त नहीं है, दैहिक प्रश्नों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। भोजन-संबंधी विवेक और मलशुद्धि का ज्ञान भी कम महत्त्व का नहीं है। यदि इसकी उपेक्षा की गई तो मानसिक चिंतन अकेला पड़ जाएगा।

मानसिक पवित्रता, प्रतिभा की सूक्ष्मता, धैर्य और मानसिक विकास की सिद्धि के लिए उक्त साधनों का अभ्यास आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य का शरीरशास्त्रीय अध्ययन

शरीरशास्त्र के अनुसार शरीर में आठ ग्रंथियां होती हैं : 1. श्लैष्मिक या पीयूष (पिच्यूटरी), 2. कंठमणि (थाइरायड), 3. वृषण, 4. सर्वकिण्वी (पैनक्रिया), 5.एड्रीनल या सुप्रारीनल, 6. पैराथाइरायड, 7. तृतीय नेत्र (पीनियलबाडी), 8. यौवन लुप्त (थाइमस)।

पीयूष ग्रंथि

यह ग्रंथि दिमाग के नीचे होती है। यह थाइरायड, पैराथाइरायड, एड्रीनल, पैनक्रिया व वृषण कोशों के स्रावों को नियंत्रित करती है। इस ग्रंथि के रसों का कार्य इस प्रकार है :

प्रथम रस का कार्य—शरीर-विकास। द्वितीय रस का कार्य—शरीर के जल या नमक का संतुलन। तृतीय रस का कार्य—गुर्दे के कार्य का नियंत्रण। पीयूष ग्रंथि काम कम करे तो काम-शक्ति नष्ट हो जाती है।

कंठमणि ग्रंथि

यह गर्दन में श्वास नली से जुड़ी हुई होती है। इसका आकार तितली के समान होता है। इसका रसस्राव अधिक होने पर शरीर को अधिक पोषण की जरूरत होती है। क्षुधा बढ़ जाती है, किंतु अन्य अंग साथ नहीं देते इसलिए वह कभी पूरी नहीं होती। ऐसी स्थिति में दुर्बलता आ जाती है। इस ग्रंथि से रस कम निकले तो बुढ़ापा आ जाता है। सर्दी अधिक लगती है, भूख कम हो जाती है, शिथिलता और उदासी रहती है।

वृषण ग्रंथि

यह पुरुष के ही होती है। यह अंडकोशों में होती है, इसके रसस्राव से पौरुष जागता है और दाढ़ी-मूंछें आती हैं।

पैनक्रिया ग्रंथि

यह दो आंतों के बीच में होती है।

एड्रीनल या सुप्रारीनल ग्रंथि

ये दो ग्रंथियां गुर्दे के ऊपरी हिस्से में होती हैं। इनके स्राव शरीर के लिए बहुत आवश्यक होते हैं। इनसे साहस मिलता है। ये स्राव यकृत की चीनी को रक्त के द्वारा मांसपेशियों में ले जाते हैं। वह मांसपेशियों को जूझने की शक्ति देती है।

पैराथाइरायड ग्रंथि

कंठमणि के पास गेहूं के दाने के बराबर चार ग्रंथियां होती हैं। इन्हें पैराथाइरायड कहा जाता है। ये रक्त में कैल्शियम, फासफोरस आदि का उचित संतुलन बनाए रखती हैं।

तृतीय नेत्र ग्रंथि

यह मस्तिष्क में होती है।

यौवन लुप्त ग्रंथि

यह सीने में होती है। इसका कार्य अज्ञात है। प्रस्तुत विषय का संबंध वृषण ग्रंथियों से है।

वृषण ग्रंथियां दो स्राव उत्पन्न करती हैं—बहिःस्राव और अंतःस्राव। धमनियों द्वारा वृषण-ग्रंथियों में रस-रक्त आता है। उसे प्राप्त कर दोनों स्रावों के उत्पादक अवयव अपने-अपने स्राव को उत्पन्न करते हैं।

वीर्य अंडकोश में उत्पन्न होता है। उसकी दो धाराएं हैं—एक वीर्याशय, जो मूत्राशय और मलाशय के मध्य में है—में जाती है। दूसरी रक्त में मिलकर शरीर में दीप्ति, मस्तिष्क में शक्ति, उत्साह आदि पैदा करती है। वीर्याशय भरा रहे तो दूसरी धारा रक्त में अधिक जाती है। यह स्थिति शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभप्रद है। वीर्याशय खाली होता रहे तो वीर्य पहली धारा में इतना चला जाता है कि दूसरी को पर्याप्त रूप से मिल ही नहीं पाता। फलतः दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को हानि पहुंचती है। वीर्याशय खाली न हो, इसका ध्यान रखना स्वास्थ्य का प्रथम प्रश्न है।

जीवन के दस स्थान हैं : 1. मूर्धा, 2. कंठ, 3. हृदय, 4. नाभि, 5. गुदा, 6. वस्ति, 7. ओज, 8. शुक्र, 9. शोणित, 10. मांस।

ये दस स्थान दूसरे प्रकार से भी मिलते हैं :

1-2. दो शंख—पटपड़ियां, 3-5. तीन मर्म—हृदय, वस्ति और सिर, 6. कंठ, 7. रक्त, 8. शुक्र, 9. ओज, 10. गुदा।

ओज इन दोनों प्रकारों में है। वह वीर्य (धातु) का अंतिम सार नहीं किंतु सातों धातुओं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र) का अंतिम सार है। उसका केंद्रस्थान हृदय है, फिर भी वह व्यापी है।[1]

इससे दो बातें निरापन्न होती हैं : 1. ओज का संबंध केवल वीर्य से नहीं है, 2. वीर्य का स्थान अंडकोश है, जबकि ओज का स्थान हृदय है।

ओज और वीर्य में तीसरा अंतर यह है कि वीर्य का मध्यम परिमाण ही लाभप्रद होता है। वह हीन मात्रा में हो तो क्षीणता आदि दोष बढ़ते हैं। वह अतिमात्रा में हो तो उससे मैथुन की प्रबल इच्छा और शुक्राश्मरी (शुक्र-जनित पथरी) रोग उत्पन्न होता है।[2]

ओज जितनी बढ़े उतना ही लाभप्रद है। उसकी वृद्धि से मन की तुष्टि, शरीर की पुष्टि और बल का उदय होता है।[3]

वीर्य-व्यय के दो मार्ग हैं : 1. जननेंद्रिय, 2. मस्तिष्क।

भोगी तथा रोगी व्यक्ति के काम-वासना की उद्दीप्ति तथा वायुविकार आदि शारीरिक रोग होने पर वीर्य का व्यय जननेंद्रिय से होता है।

योगी लोग वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर मोड़ देते हैं। अतः उनके वीर्य का व्यय मस्तिष्क में होता है। वीर्य का प्रवाह नीचे की ओर अधिक होने से काम-वासना बढ़ती है और उसका प्रवाह ऊपर की ओर होने से काम-वासना घटती है।

काम-वासना के कारण जननेंद्रिय द्वारा जो वीर्य व्यय होता है, वह अब्रह्मचर्य का ही एक प्रकार है। वह सीमित होता है तो उसका शरीर पर अधिक हानिकर प्रभाव नहीं होता। मन में मोह और संस्कारों में अशुद्धि उत्पन्न होती है, इसे आध्यात्मिक दृष्टि से हानि ही कहा जाएगा।

जो आदमी अब्रह्मचर्य में अति आसक्त होता है, उसकी वृषणग्रंथियों में आने वाले रस-रक्त का उपयोग बहिःस्राव उत्पन्न करने वाले अवयव कर लेते हैं। इसका फल यह होता है कि अंतःस्राव उत्पन्न करने वाले अवयव उचित सामग्री के अभाव में अपना काम करने में अक्षम रह जाते हैं। फलतः सर्व धातुओं और सर्वांग पर होने वाले अंतःस्राव के महत्त्वपूर्ण प्रभावों से वह वंचित रह जाता है और अनेक प्रकार के विकार उसके शरीर में उत्पन्न होते हैं।

आयुर्वेद के ग्रंथों में इस विषय को एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है। सात क्यारियों में सातवीं क्यारी में बड़ा गर्त हो या उसमें से जल निकलने के लिए छेद हो तो सीधी-सी बात है कि पहले संपूर्ण जल उस गढ़े में भरने लगेगा या उस क्यारी को पूर्ण करने में व्यय होगा। यही स्थिति अति मैथुन आदि के कारण होने वाले शुक्र क्षय में होती है। निश्चित ही संपूर्ण रस प्रथम शुक्र धातु की पुष्टि में लगता है, किंतु अति मैथुनवश शुक्र पुष्ट हो ही नहीं पाता। परिणामतया अन्य धातुओं की पुष्टि रस से हो नहीं पाती और शरीर में विभिन्न विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य से इंद्रिय-विजय और इंद्रिय-विजय से ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। वस्तुतः इंद्रिय-विजय और ब्रह्मचर्य दो नहीं हैं। ब्रह्मचर्य की इंद्रिय-विजय से एकात्मकता है, इसलिए उससे शरीर की स्थिरता, मन की स्थिरता और अनुद्विग्नता, अदम्य उत्साह, प्रबल सहिष्णुता, धैर्य आदि अनेक गुण विकसित होते हैं।

ब्रह्मचर्य से हमारे स्थूल अवयव उतने प्रभावित नहीं होते, जितने सूक्ष्म अवयव होते हैं।

कुछ लोगों का मत है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का शरीर और मन पर अनुकूल प्रभाव नहीं होता। इस मत में सचाई का अंश भी है, पर उसी स्थिति में जब ब्रह्मचर्य का पालन केवल विवशता की परिस्थिति में हो। चिंतन के प्रवाह को काम-वासना की लहरों से मोड़कर अन्य उदात्त भावनाओं की ओर ले जाया जाए तो ब्रह्मचर्य स्ववशता की परिस्थिति में विकास पाता है। वह शरीर और मन की सूक्ष्मतम स्थितियों पर बड़ा लाभदायी प्रभाव डालता है।

बहुत सारे लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, फिर भी नहीं कर पाते। ऐसा क्यों होता है? अब्रह्मचर्य की भावना सहज ही क्यों उभर आती है? इस प्रश्न का उत्तर कर्मशास्त्रीय भाषा में यह है कि यह सब मोह के कारण होता है, पर शरीरशास्त्र की भाषा में कर्म का स्थान नहीं है। उसके अनुसार काम-वाहिनी नाड़ियों में रक्त का संचरण होने से अब्रह्मचर्य की भावना उभरती है। उसका संचरण नहीं होता तो वह भावना नहीं उभरती। संचरण कम होने से वह भावना कम उभरती है और संचरण अधिक होने से वह भावना अधिक उभरती है। इस संदर्भ में हम उस तथ्य की ओर संकेत कर सकते हैं कि ब्रह्मचारी के लिए गरिष्ठ या दर्पक आहार का निषेध क्यों किया गया?

अब्रह्मचर्य एक आवेग है। हर आवेग पर मनुष्य अपनी नियंत्रण-शक्ति से विजय पाता है। मन की नियंत्रण-शक्ति का विकास ब्रह्मचर्य का प्रमुख उपाय है। पर यह प्रथम उपाय नहीं है। प्रथम है ब्रह्मचर्य के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा होना। दूसरा है वीर्य या रक्त के प्रवाह को मोड़ने की साधना। इसमें ब्रह्मचर्य जितना सहज हो सकता है, उतना नियंत्रण-शक्ति से नहीं।

काम-वासना मस्तिष्क के पिछले भाग में प्रारंभ होती है, इसलिए जैसे ही वह उभरे, वैसे ही उस स्थान में मन को एकाग्र कर कोई शुभ संकल्प किया जाए, जिससे वह उभार शांत हो जाए।

पेट में मल, मूत्र और वायु का दबाव बढ़ने से काम-वाहिनी नाड़ियां उत्तेजित होती हैं। खान-पान और मलशुद्धि में सजग रहना ब्रह्मचर्य की बहुत बड़ी शर्त है। वायु-विकार न बढ़े, इस ओर ध्यान देना भी बहुत आवश्यक है।

काम-जनक अवयवों के स्पर्श से भी वासना बहुत अपेक्षित है। इन सारी बातों का ब्रह्मचर्य के परिपार्श्व में बहुत महत्त्व है पर इन सबसे जिसका अधिक महत्त्व है, वह है वीर्य या रक्त-प्रवाह को मोड़ने की प्रक्रिया। उसकी कुछ विधियां इस प्रकार हैं :

ऊर्ध्वाकर्षण

(क) सिद्धासन में बैठिए। श्वास का रेचन कीजिए—बाहर निकालिए। बाह्य कुंभक कीजिए—श्वास को बाहर रोके हुए रहिए। इस स्थिति में संकल्प कीजिए कि वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर में घूम रहा है। वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर हो रहा है।

संकल्प इतनी तन्मयता से कीजिए कि वैसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगे। जितनी देर सुविधा से कर सकें, यह संकल्प कीजिए। फिर पूरक कीजिए—श्वास को अंदर भरिए। पूरक की स्थिति में मूलबंध कीजिए—गुदा को ऊपर की ओर खींचिए तथा जालंधर बंध कीजिए—ठुड्डी को तानकर कंठकूप में लगाइए। फिर पेट को सिकोड़िए और फुलाइए। आराम से जितनी बार ऐसा कर सकें—कीजिए। फिर रेचन कीजिए। यह एक क्रिया हुई। अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते इसे सात या नौ बार दोहराइए।

(ख) पीठ के बल चित्त लेट जाइए। सिर, गर्दन और छाती को सीध में रखिए। शरीर को बिल्कुल शिथिल कीजिए। मुंह को बंद कर पूरक कीजिए। पूरक करते समय यह संकल्प कीजिए कि काम-शक्ति का प्रवाह जननेंद्रिय से मुड़कर मस्तिष्क की ओर जा रहा है। मानसिक चक्षु से यह देखिए कि वीर्य रक्त के साथ ऊपर जा रहा है। काम-वाहिनी (जननेंद्रिय के आसपास की) नाड़ियां हल्की हो रही हैं और मस्तिष्क की नाड़ियां भारी हो रही हैं।

पूरक के बाद अंतःकुंभक कीजिए—श्वास को सुखपूर्वक अंदर रोके रहिए। फिर धीमे-धीमे रेचन कीजिए।

पूरक और रेचन का समय समान और कुंभक का समय उससे आधा होना चाहिए। यह क्रिया बढ़ाते-बढ़ाते पंद्रह-बीस बार तक करनी चाहिए। वीर्य के ऊर्ध्वारोहण का संकल्प जितना दृढ़ और स्पष्ट होगा, उतनी ही काम-वासना कम होती जाएगी।

कुक्कुटासन

इससे काम-वाहिनी स्नायुओं पर दबाव पड़ता है।

उससे मन शक्तिशाली और प्रशांत होता है। काम-वासना क्षीण होती है।

मन की स्थिरता होने से वायु की स्थिरता होती है। वायु की स्थिरता से वीर्य की स्थिरता होती है। वीर्य की स्थिरता से शरीर की स्थिरता प्राप्त होती है। कहा भी है :

मनःस्थैर्यात् स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत्।।

बिंदुस्थैर्यात् सदा सत्त्वं, पिण्डस्थैर्यं च जायते।।

ऊर्ध्वाकर्षण की प्रक्रिया केवल पुरुषों के लिए है। स्त्रियों के लिए संकल्प-शुद्धि का अभ्यास सहायक हो सकता है। सोते समय पवित्र संकल्प करने चाहिए—

1. मैं ज्योतिर्मय हूं, आनंदमय हूं, स्वस्थ हूं, निर्विकार हूं, वीर्यवान हूं—आदि-आदि सत्संकल्प हैं। संकल्प करते समय मन स्थिर और पवित्र होना चाहिए, 2. नींद टूटते ही जप और ध्यान करना चाहिए। दूसरों की अनिष्ट-चिंता करने से मन की शक्ति का हनन होता है, 3. आत्मौपम्य (प्राणी मात्र को अपने समान मानकर) चिंतन करने से मन का विकास होता है।

संकल्प

मानसिक विकास के अनेक साधन हैं। उनमें दृढ़ संकल्प भी एक साधन है। दृढ़ संकल्प का व्यक्ति के जीवन पर सीधा असर होता है। उससे व्यक्ति के संस्कारों का निर्माण होता है, मन में अच्छे विचार जागते हैं तब व्यवहार पर भी अच्छाई का प्रतिबिंब पड़ता है। किसी के प्रति बुरी भावना उठती है, तो उसका परिणाम भी लंबे समय तक भुगतना पड़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति में मानवीय दुर्बलताएं होती हैं। किसी में क्रोध, किसी में ईर्ष्या तो किसी में आग्रह आदि-आदि। वृत्तियों की शुद्धि के लिए संकल्प सीधा मार्ग है। संकल्प की साधना करने वाला इन सूत्रों पर ध्यान दे :

(क) संकल्प दृढ़ निष्ठा व विश्वास के साथ करना चाहिए—मैं यह काम कर सकता हूं, यह काम होकर रहेगा। (ख) संकल्प उच्चारणपूर्वक होना चाहिए। कम से कम बीस-तीस बार संकल्प को जोर से बोलकर दोहराना चाहिए। (ग) संकल्प में तन्मय होने से वह शरीर-व्यापी हो जाता है। (घ) सोने से पहले और जागते ही—ये दो समय संकल्प के लिए अधिक फलप्रद होते हैं। सोते समय जो विचार किया जाता है, उसे सूक्ष्म (अवचेतन) मन शीघ्रता से ग्रहण करता है। इसलिए नींद में भी उसका कार्य चलता रहता है। हम जिन विचारों का संकल्प लेकर सोते हैं, उठते समय वे ही विचार मन में मिलते हैं। सोकर उठने के बाद इंद्रियां और मन शांत रहते हैं। उस समय का संस्कार मन पर दृढ़ व गहरा पड़ता है। इन दो समयों के अतिरिक्त जब भी समय मिले, संकल्प को दोहराते रहना चाहिए, जिससे संकल्प-सिद्धि में सहयोग मिलता रहे और अन्य प्रकार के विचार भी न घुसने पाएं। (च) संकल्प को दोहराते समय लयबद्धता हो जानी चाहिए। दोहराने का स्वर जितना लंबा होगा, उतनी ही स्थिरता बढ़ेगी। जितना कम समय होगा, उतनी ही स्थिरता कम होगी। भोजन के तत्काल बाद ऐसा नहीं करना चाहिए। (छ) संकल्प में सातत्य होना चाहिए। पांच दिन संकल्प किया, फिर दो दिन छोड़ दिया; फिर सात दिन किया, फिर छोड़ दिया—यह साधना का क्रम नहीं है। साधना का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए। (ज) संकल्प तालयुक्त श्वास के साथ करना चाहिए। जो संकल्प श्वास के साथ भीतर जाता है, वह तीन मिनट में शरीर के प्रत्येक अवयव पर अपना प्रभाव छोड़ जाता है। पूरक के समय यह संकल्प करना चाहिए कि संकल्प्य वस्तु भीतर जा रही है। कुंभक काल में यह संकल्प होना चाहिए कि संकल्प्य वस्तु समूचे शरीर में व्याप्त हो गई है। रेचनकाल में मन को खाली रखना चाहिए।

संकल्प की पद्धति से जिस स्वभाव को बदलना चाहें, उसे बदलने में हम सफल हो सकते हैं। नए स्वभाव का निर्माण कर सकते हैं। अभ्यास से व्यक्ति अपनी शक्ति बढ़ा सकता है। अभ्यास न करने से जो शक्ति होती है, वह भी घट जाती है। आजकल लड़कियां पढ़ती हैं, कुछ वर्ष पहले नहीं पढ़ती थीं। क्या ज्ञानोपलब्धि की क्षमता पुरानी लड़कियों में नहीं थी? किंतु उचित परिस्थिति के अभाव में वह उपयोग में नहीं आ रही थी, अब आ रही है। उचित परिस्थिति के अभाव में विद्यमान शक्ति भी उसी तरह हो जाती है। संकल्प की साधना से जैसा चाहें, वैसा बन सकते हैं। मूल शक्ति व्यक्ति में ही होती है। वह हीन भावना की परतों के नीचे दबी रहती है। उसे पुरुषार्थ से जगाना अपेक्षित है। ❖

संदर्भ

1. सुश्रुत 11।36
ओजस्तु तेजो धातूनां, शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि, देहस्थितिनिबन्धनम्।।
2. सुश्रुत 11।12 : अतिस्त्रीकामतां वृद्धं, शुक्रं शुक्राश्मरीमपि।
3. सुश्रुत 12।41 : ओजेवृद्धौ हि देहस्य, तुष्टिपुष्टिबलोदयः।

भगवान महावीर ने कहा कि कोई केवल मुंडित होने से श्रमण नहीं होता, किंतु जो समत्व की साधना करता है वही वस्तुतः श्रमण होता है। हिंसक प्रवृत्तियों से निवृत्ति साधना का बाह्य पक्ष है। इसके लिए पांच महाव्रत, पांच समिति और त्रिगुप्ति का विधान किया गया है। आंतरिक और बाह्य पक्ष का मणिकांचन योग ही साधक को सफलता के शिखर पर आरोहण करवाता है।

भारतीय परंपरा में संन्यास

◻ साध्वी पीयूषप्रभा ◻

भारतीय संस्कृति के ब्रह्म-साक्षात्कार को जीवन का सर्वोच्च ध्येय माना गया है। सर्वोच्च ध्येय की प्राप्ति के लिए दीक्षा (संन्यास) को सर्वोच्च साधन माना गया है। दीक्षा की पृष्ठभूमि में व्रत की चेतना निहित रहती है। व्रत की चेतना का जागरण होने पर ही व्यक्ति दीक्षा के लिए उद्यत हो सकता है। जैन संस्कृति प्रारंभ से ही व्रात्यों की संस्कृति रही है। वैदिक परंपरा में भी सत्य की प्राप्ति के लिए व्रत और दीक्षा को महत्त्व दिया गयां है। यजुर्वेद में लिखा है—

व्रतेन दीक्षाम् आप्नोति, दीक्षया प्राप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धाम् आप्नोति, श्रद्धया सत्यम् आप्यते।।

व्रत से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा (आध्यात्मिक परिष्कार) दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है।

अथर्ववेद में धर्म के छह चरणों की बात आती है। उनमें एक है दीक्षा। संभवतः संन्यास ग्रहण करने की परंपरा उस समय विद्यमान नहीं थी। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ—ये दो ही जीवन जीने की पद्धतियां विकसित थीं। आरण्य युग में 'न्यास' को मोक्ष का हेतु कहा गया है। सत्य, दम, शम, दान, धर्म, पुत्रोत्पादन, अग्निहोत्र, यश और मासिक उपासना—इन सबमें न्यास को सबसे उत्कृष्ट बतलाया गया है। किंतु वह किन लोगों द्वारा स्वीकृत था, इस बात का वहां कोई वर्णन नहीं मिलता है।

आश्रम व्यवस्था का अस्पष्ट-सा वर्णन छांदोग्योपनिषद् में प्राप्त होता है। वहां धर्म के तीन स्कंध बताए गए हैं—(स्कंध अर्थात् आधार स्तंभ) यज्ञ, अध्ययन और दान। इनको सम्यक् प्रकार से संपादित करने वाले व्यक्ति पुण्यलोक के भागी होते हैं। ब्रह्म में सम्यक् प्रकार से स्थित संन्यासी अमृतत्व को प्राप्त होता है।

जाबालोपनिषद् में चार आश्रमों की स्पष्ट व्यवस्था मिलती है। वहां बताया गया है कि ब्रह्मचर्य को समाप्त करने के पश्चात् गृहस्थ, वानप्रस्थ और तत्पश्चात् प्रव्रजित होना चाहिए। यह समुच्चय पक्ष है। यदि वैराग्य उत्कट हो तो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ या वानप्रस्थ किसी भी आश्रम से संन्यास स्वीकार किया जा सकता है। जिस समय वैराग्य हो उसी समय प्रव्रजित हो जाना चाहिए। यह विकल्प पक्ष है।

चार आश्रमों की व्यवस्था हो जाने पर भी धर्मशास्त्र गृहस्थाश्रम को ही महत्त्व देते रहे हैं। वशिष्ठ ने लिखा है—आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक। वशिष्ठ धर्म शा. 7/1/2 तथा 8/14-15 में लिखा है—

गृहस्थ एव यजते, गृहस्थस्तप्यते तपः।
चतुर्णामाश्रमाणं तु, गृहस्थश्च विशिष्यते।।

यथा नदी नदाः सर्वे, समुद्रे यान्ति संस्थितिम्।
एवमाश्रिमणः सर्वे, गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।।

वस्तुतः वैदिक परंपरा के मूल में यह मान्यता रही है कि आश्रम एक ही है—गृहस्थाश्रम। उत्तराध्ययन में इंद्र और नमि राजर्षि के संवाद में इंद्र, ब्राह्मण परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हुए कहता है कि 'राजर्षे ! गृहवास घोर आश्रम है। तुम इसे छोड़ दूसरे आश्रम में जाना चाहते हो, यह उचित नहीं। तुम यहीं रहो और यहीं धर्मपोषक कार्य करो।' किंतु फिर भी कुछ लोग परिव्राजक अवश्य बनते थे। वृहदारण्यकोपनिषद् के प्रसंग से इस बात की पुष्टि होती है। जिस समय याज्ञवल्क्य परिव्राजक बनते हैं उस समय वे अपनी संपत्ति मैत्रेयी तथा कात्यायनी में बांट देने को कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि उस समय परिव्राजकों को घर-द्वार, पत्नी एवं सारी संपत्ति का परित्याग कर देना होता था। आत्मविद् व्यक्ति अकिंचन का जीवन व्यतीत करते थे।

बौद्ध परंपरा में जैन परंपरा के समान ही श्रमण जीवन की सर्वोत्कृष्टता को स्वीकार किया गया है। गृहस्थ जीवन और मुनि जीवन की परस्पर कोई तुल्यता नहीं है। निरहंकार, सुव्रतधारी, एकांतवासी, प्रव्रजित और गृही में समानता नहीं होती। असंयमी गृहस्थ दूसरे जीवों का वध करता है। मुनि नित्य दूसरे प्राणियों की रक्षा करते हैं। सूत्रनिपात (12/14-15) में बताया गया है—

सिखी यथानीलगीवो विहंगमो,
हंसस्य नोपेति जवं कुदाचनं।
एवं गिही नानुकरोति भिक्खुनो,
मुनिनो विवित्तस्स वनम्हि झायतो ति।।

जिस प्रकार आकाशगामी नीलग्रीवा वाला मयूर वेग के क्षेत्र में हंस का अनुकरण नहीं कर सकता, उसी प्रकार गृहस्थ अकेले वन में ध्यान करने वाले भिक्षु का अनुकरण नहीं कर सकता।

मुनि जीवन का सफलता से पालन करने के लिए कुछ अर्हताओं का निर्धारण भी सूत्रनिपात के मुनि सूत्र में किया गया है। तृष्णा और लोलुपता से जो परे है उसे मुनि कहा गया है। प्रज्ञाबल से युक्त, शीलवान, व्रतधारी, समाधिस्थ, ध्यानरत, स्मृतिमान, बंधनमुक्त, चैतसिक ऊसरता से रहित और वासना रहित व्यक्ति को ही ज्ञानियों ने मुनि की संज्ञा दी है। (सूत्र निपात 12)

'धम्मपद' में बुद्ध कहते हैं—जो व्रतहीन है, मिथ्याभाषी है वह मुंडित होने मात्र से श्रमण नहीं होता। इच्छा और लोभ से भरा हुआ मनुष्य भला क्या श्रमण बनेगा? जो छोटे-बड़े सभी पापों का शमन करता है उसे पापों का शमन-कर्ता होने के कारण ही श्रमण कहा जाता है। (264-265)।

इस प्रकार बौद्ध धर्म में चैतसिक पवित्रता को मुनि के लिए आवश्यक बताया है किंतु उसके साथ-साथ उस पवित्रता को प्राप्त करने के लिए बाह्य नियमों का भी निरूपण किया गया है।

जैन संस्कृति तो प्रारंभ से ही व्रात्यों की संस्कृति रही है। महाव्रतों का त्रिकरण तीन योग से पालन करने वाला साधक मोक्ष पद का अधिकारी हो सकता है। गृहत्यागी मुनि ही महाव्रतों की आराधना करने में समर्थ हो सकता है, अतः जैन परंपरा में श्रमण जीवन को प्रधान माना गया है। वृहत्कल्प सूत्र के अनुसार प्रत्येक आगंतुक को पहले यतिधर्म की अवगति देनी चाहिए और यदि वह उसके पालन में असमर्थता प्रकट करे तो उसे गृहस्थ के लिए आचरणीय अणुव्रत धर्म का उपदेश देना चाहिए।

संन्यास की परंपरा का सूत्रपात भगवान ऋषभ के युग से होता है। श्रीमद्भागवत आदि ग्रंथों में भी इस बात का उल्लेख है। भगवान ऋषभ ने चतुर्थकाल में तिरासी लाख पूर्व के शासन के बाद दीक्षा ली। यह इस काल की प्रथम दीक्षा थी। उसके बाद लोगों में संन्यासी जीवन के प्रति अभिरुचि बढ़ी और श्रमण परंपरा आगे से आगे बढ़ती रही। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—

मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलअग्घइ सोलसिं।।

कोई बाल (गृहस्थ) मास-मास की तपस्या के अनंतर कुश की नोक पर टिके उतना-सा आहार करे तो भी वह सु-आख्यात धर्म क्षत्रिय-धर्म की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं होता।

जो साधक शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता, किसी प्रकार की सांसारिक कामना नहीं करता, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, मैथुन और परिग्रह के विकार से रहित रहता है—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि आत्मपतन के हेतुओं से दूर रहता है, इंद्रिय विजेता है, मोक्ष मार्ग का सफल यात्री है, वही अभय कहलाने का अधिकारी होता है।

जैन विचारणा के अनुसार साधना के दो पक्ष हैं—आंतरिक और बाह्य। आंतरिक पक्ष समत्व की साधना का पक्ष है। भगवान महावीर ने कहा कि कोई केवल मुंडित होने से श्रमण नहीं होता किंतु जो समत्व की साधना करता है, वही वस्तुतः श्रमण होता है। हिंसक प्रवृत्तियों से निवृत्ति

साधना का बाह्य पक्ष है। इसके लिए पांच महाव्रत, पांच समिति और त्रिगुप्ति का विधान किया गया है। आंतरिक और बाह्य पक्ष का मणिकांचन योग ही साधक को सफलता के शिखर पर आरोहण करवाता है।

श्वेतांबर परंपरा के नियमों के आधार पर दो प्रकार के श्रमण होते हैं—(1) जिनकल्पी, (2) स्थविरकल्पी।

जिनकल्पी मुनि एकाकी विहरण करते हैं और अचेल एवं करपात्र होते हैं। स्थविरकल्पी, संघबद्ध साधना करते हैं और सचेल, सपात्र मुक्त होते हैं। अपनी-अपनी रुचि, अर्हता आदि के आधार पर किसी भी साधना पथ को स्वीकार किया जा सकता है। किंतु इतना निश्चित है कि मोक्ष मार्ग की प्राप्ति के लिए घर, परिवार, धन, शरीर की आसक्ति का त्याग अनिवार्य है। दीक्षा उसका सर्वोत्तम उपाय है।

भगवान महावीर ने प्रव्रज्या काल (दीक्षा काल) के विषय में तीन यामवयो विभाग प्रतिपादित किए हैं। आठ वर्ष से तीस वर्ष तक का पहला याम, तीस वर्ष से साठ वर्ष तक मध्यम याम और उससे आगे जीवनपर्यंत तीसरा याम। इन तीनों अवस्थाओं में आर्य पुरुष संबोधि को प्राप्त कर प्रव्रजित होते हैं। इसके अनुसार आठ वर्ष की अवस्था के बाद बालक दीक्षा लेने के योग्य हो जाता है। परिव्राजक बीस वर्ष से कम अवस्था वाले को प्रव्रजित नहीं करते थे। वैदिक लोग अंतिम अवस्था में संन्यास ग्रहण करते थे। बुद्ध ने तीस वर्ष की उम्र वालों को उपसंपदा (दीक्षा) देने का विधान किया है। किंतु कौआ उड़ाने में समर्थ पंद्रह वर्ष से कम उम्र के बच्चे को श्रामण बनने की अनुमति दी है।

❖

सत्याग्रह का रहस्य यह है कि जो व्यक्ति पीड़ित तथा शोषित है वह पहले आत्मपरीक्षण करता है कि उसमें खुद में कौन-सी कमजोरियां, खामियां, गलतियां, बुराइयां हैं जिनके कारण दूसरे लोग उसका शोषण करने के लिए उत्साहित होते हैं, शोषण करने की हिम्मत करते हैं और शोषण करने में सफल होते हैं। सत्याग्रह का पहला चरण यह है कि शोषित और पीड़ित व्यक्ति या समुदाय सबसे पहले उन भीतरी कारणों को दूर करे जिनके कारण वह शोषण का शिकार होता है। यही शिक्षा भी है। इस प्रकार शिक्षा और सत्याग्रह में मौलिक एकता है और आगे सत्याग्रह का दूसरा चरण आता है जिसमें अन्याई के विरुद्ध कोई सक्रिय सत्याग्रही कदम उठाने की आवश्यकता हो सकती है। पर, यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें कोई भी दूसरा व्यक्ति या समुदाय किसी भी दूसरे व्यक्ति या समुदाय को सलाह नहीं दे सकता क्योंकि सक्रिय सत्याग्रह तो पूर्णतया मनुष्य की अंतरात्मा की प्रेरणा पर ही आधारित है। इस विषय में मार्गदर्शन मनुष्य को उसके भीतर से ही और प्रस्तुत परिस्थिति के भीतर से ही प्राप्त होगा। पर इसके विषय में इतना कहा जा सकता है कि यदि मनुष्य पहले अपनी उन कमजोरियों को दूर करने में लग जाए जिनके कारण उस पर अन्याय होता है और वह ऐसा करने में सफल हो जाए तो उसे आतताई के विरुद्ध सक्रिय सत्याग्रह करने की नौबत बहुत कम आएगी और यदि आएगी भी तो उसे परिस्थिति के भीतर से तथा अपनी अंतरात्मा की प्रेरणा में से पर्याप्त मार्गदर्शन मिल जाएगा। आत्मा की पूर्ण साक्षी के बिना कोई भी सक्रिय सत्याग्रह संभव नहीं है और आत्मा की गवाही तो भीतर से ही आती है, उसके लिए बाहर से रास्ता नहीं दिखाया जाता। इस सत्याग्रह का मूल मंत्र यही है कि अन्याय करने में भाग नहीं लिया जाए, अन्याय करवाने में भाग नहीं लिया जाए, अन्याय को सहने में भी भाग नहीं लिया जाए और ऐसा करने में जो संकट या जोखिम आए, उसे बदला लेने की वैर भावना के बिना शांति से सामने वाले के प्रति सद्भावना को कायम रखते हुए सहन किया जाए। इसी को सत्याग्रह, इसी को अनासक्ति, इसी को धर्म, इसी को कर्मयोग, इसी को यज्ञ कहा जाता है और यही सच्ची शिक्षा का लक्ष्य है।

—दयालचन्द्र सोनी

सवेरे-ही-सवेरे कोलाहल सुन पड़ा। जान पड़ता है, यह हो-हल्ला फिर नूनी को लेकर ही है। नूनी नहीं होती घर में, तब सब चुपचाप अपने-अपने में हो रहते हैं, मानो उन्हें अपने काम से और अपने निज से ही मतलब है; एक-दूसरे से कुछ मतलब शेष नहीं रह गया। नूनी न हो बीच में, तो हम दोनों तक को आपस में बात करने के लिए विषय का अभाव-सा लगता है। नूनी को लेकर आपस में बोल लेते हैं, झगड़ लेते हैं, मिल लेते हैं। इस तरह खाली-से हम नहीं रहते। दिन भरे-हुए-से बीत जाते हैं।

पढ़ाई

□ जैनेन्द्र कुमार □

यह सुनयना जाने कितने बरस की हो जाने पर ठीक-ठीक सुनयना बनेगी? अभी तो दिन-भर नूनी ही बनी रहकर ऊधम मचाती डोलती रहती है। जब दो बरस की थी, मैंने गोद में बिठाकर पूछा, 'बिट्टी, तेरा नाम क्या है?'

बिट्टी ने कहा, 'ऊं-ई।'

बिट्टी की बुआ ने कहा, 'नूनी! हां, बिट्टी, फिर कहना नूनी।'

और बिट्टी ने फिर कहा, 'ऊं-ई।'

हम सब हंस पड़े, और उसने झट दोनों हाथ लगाकर मेरी दाढ़ी पकड़ ली। कहा, 'जा-ऊं-ऊं-ईं।'

तब तो यह सब-कुछ ठीक था। पर, अब चार बरस और गुजर गए हैं, वह छह बरस से भी ऊपर की हो गई है। अब पुराना वह सब-कुछ नहीं निभ सकेगा। उमर आ गई है कि अब अदब सीखे, कहना माने और शऊर से रहे। और, वह शऊर जानती नहीं। छह बरस की लड़कियां दूसरी जमात तक पहुंच जाती हैं और एक यह है कि मां का दूध नहीं छोड़ना चाहती। यों काम में मां को अंगूठा दिखाकर भाग जाती है। मां इससे बड़ी असंतुष्ट है, 'एक तो लड़की है, वह यों बिगड़ी जा रही है। बिगड़ जाएगी तो फिर कौन संभालेगा? उन्हीं के सिर तो सब पड़ेगा। सो, वह भी औरों की तरह फिकर करना छोड़ बैठें, तो कैसे चले?' उनकी और सुनन्दा की कहा-सुनी इस बात पर अक्सर हो जाती है।

बिट्टी की बुआ कहती है, 'अरी, क्यों उसे धमकाया करती है? आखिर बच्ची ही तो है।'

वह कहती है, 'जीजी, बच्ची तो है, पर, लाड़ बखत-बखत का होता है। लाड़ क्या मैं करना नहीं जानती? पर, उमर होती है और काम के बखत का लाड़ बिगाड़ ही करता है। और जीजी, काम से आदमी बनता है, लाड़ से तो कोई बनता नहीं है।'

ऐसे समय नए कपड़ों को मैला बनाकर नूनी यदि आ पहुंचती, तो अम्मा उसको कहती, 'क्यों, फिर खेलने बाहर पहुंच गई थी? अब तू ठीक तरह पढ़ेगी नहीं? अच्छी बात है।'

और उनकी मुद्रा को देखकर नूनी बुआ की गोद के पास सरक जाती और बुआ उसे गोद में दुबका लेती।

उस समय 'नहीं जीजी, यह नहीं होगा।' कहती—और नूनी को उस गोद से खींचती हुई वह ले जाती। उसे रुलाती और फिर अपनी गोद में लेकर, तभी मंगाकर मीठी-मीठी बर्फी खिलाती।

उनके पेट की कन्या है, पर दुनिया बुरी है। उसने पढ़ना-लिखना जैसी भी चीज अपने बीच में पैदा कर रखी है। और उसी दुनिया में मास्टर लोग भी हैं, जो डंडा दिखाकर बच्चों को पढ़ा देंगे और आपसे रुपया लेकर पेट पाल लेंगे। और उसी दुनिया में एक चीज है प्रतिष्ठा। और भी इसी तरह की बहुत-सी चीजें हैं। और फिर है ब्याह, जिसमें एक सास मिलती है और एक ससुर मिलता है।

वह मां है और उसके पेट की कन्या है। पर इस दुनिया को लेकर वह झंझट में पड़ जाती है। तभी नूनी को थप्पड़ मारकर अपनी गोदी से दूर करके कहती हैं, 'पढ़!'

और नूनी रोती है और पढ़ नहीं सकती।

और मां कहती हैं, 'कम्बख्त, पढ़!'

तब लड़की के पढ़ उठने से ही गुजारा होता है। या मां के जी में आंसू की भाप-सी उठ आने पर भी गुजारा हो जाता है। तब वह कहती है, 'मास्टर जी, इसे तस्वीर वाला सबक पढ़ाना! और मास्टर जी, इसके मन के मुताबिक पढ़ाना!...'

और फिर नूनी की ओर जो देखती है, तो कहती हैं, 'अच्छा मास्टर जी, आज छुट्टी सही। जरा कल जल्दी आ जाना।'

मां तो मां है, पर लड़की तो सदा लड़की बनी रहेगी नहीं। मां के मन में यही बात उठकर दर्द दे रही है। आज तो लड़की है; पर एक कल भी तो आ पहुंचने वाला है, जब उसका ब्याह होगा, पूछा जाएगा—कितना पढ़ी है, क्या जानती है? तब उनके सामने यह बात किस तरह कहने लायक हो सकेगी कि मेरे बड़े दुलार की है, बड़े प्यार से मैंने पाली है। तब तो खोजकर यही कहना होगा कि खूब काम सीखा है, और उस मास्टर से इतना पढ़ी है, और वहां से यह पास किया है। उस कल के दिन आने पर चुप नहीं रह जाए; बल्कि बहुत-कुछ उस रोज कहने के लिए उसके पास जमा हो—इसी के प्रबंध में तो वह है। वह मां तो है; पर यह भी कैसे भूले कि इसीलिए है कि किसी अजनबी को खोजकर लाए और उसे अपनी लड़की सौंप डाले। यह जिम्मेदारी, वह बहुत कम क्षण भूल पाती है।

मैं लिख रहा था; उन्होंने आकर कहा, 'तुम तो देखते नहीं हो और नूनी यों ही रह जाएगी। पढ़ने-लिखने में उसका चित्त नहीं है। और तुम घर से वैरागी बने हो। क्यों नहीं बुलाकर उसे जरा-कुछ कहते?'

मैंने कहा, 'अभी छह बरस की ही तो है।'

'यों ही बीस बरस की भी हो जाएगी।...'

मैंने हंसकर कहा, 'यों ही तो बीस बरस की कैसे हो जाएगी? चौदह बरस बीच के काट लेगी तब होगी।'

'तुम तो यों ही कहते हो। मैं कहती हूं, नेक उसका खयाल भी रख लिया करोगे तो कुछ तुम्हारा बिगड़ नहीं जाएगा।'

मैंने कहा, 'अच्छी बात है।'

'अच्छी बात नहीं है...'

मैंने कहा, 'अच्छा, अच्छी बात नहीं है।'

होते-होते वह सचमुच बिगड़ने-सी लगी।

मैंने कहा, 'तुम उसे नूनी फिर क्यों कहती हो? नाम तो उसका सुनयना है। नूनी बनकर वह खिलवाड़ नहीं छोड़ सकती। और तुम कहना चाहती उसे नूनी ही, फिर चाहती हो, खेलना छोड़ दे। अर्थात् नूनी रहना छोड़ दे। तुम उसे नूनी रखना छोड़ दो, वह भी आप छोड़ देगी।'

'हां, मैं सुनयना नहीं और कुछ कहूंगी! तुम्हारी मत कैसी है कि उल्टे मुझे ही कहते हो, यह नहीं कि उसे नेक बुलाकर समझा देते!'

मैंने कहा, 'अच्छा-अच्छा, तुम चाहती क्या हो?'

उन्होंने कहा, 'मैं पाठशाला तो भेजना नहीं चाहती। अध्यापिका सब ऐसी ही होती हैं, बच्चे का नेक खयाल नहीं रखतीं। और धमकाएं, मारे भी—इसका क्या ठीक है। नहीं, बच्चे को मैं आंख-ओझल नहीं करूंगी। पर एक पढ़ाने वाली और लगा दो। घर पर पूरे पांच घंटे उसे पढ़ाना चाहिए।'

मैंने कहा, 'पांच घंटे!'

'तुम्हारा बस हो, तुम सारी उमर उसे खेलने दो।'

मैंने कहा, 'पांच घंटे बहुत होते हैं। एक घंटा पढ़ लेना बहुत काफी है। यों अभी जरूरी वह भी नहीं है।'

'तुम्हारे लेखे जरूरी कुछ नहीं है। सिर तो मेरे बीतती है।'

मैंने कहा, 'अच्छी बात है, एक घंटा मैं पढ़ा दिया करूंगा।'

'तुम पढ़ाकर रखोगे? यह होता तो दिन ही अच्छे न होते?'

मैंने कहा, 'समझो, अब दिन अच्छे आ गए। मैं पढ़ाऊंगा।'

'पढ़ाना, कहीं तमाशा करो।'

'जैसे पढ़ाऊंगा, पढ़ा दूंगा। यह काम तो मेरे ऊपर रहने दो।'

वह आश्वस्त और प्रसन्न होकर बोली, 'अच्छी बात है। मैं देख लिया करूंगी।'

और वह चली गई और मैं अपने काम में लग गया।

पर कुछ ही देर में वह लौट आई, मेरे सामने के कागजों को सरका देकर मेज के पास आ खड़ी हो रही। जिज्ञासा-भाव से मैं उनकी ओर देखकर रह गया।

बोली 'तुम नाराज तो नहीं हो गए? देखो, नाराज मत होना। मैं क्या करूं? मेरा मन कहता है, बिट्टन को खूब पढ़ाना चाहिए और खूब अच्छा बनाना चाहिए। इसी से मैं कहती हूं।'

मैंने कहा, 'ठीक तो है।'

'...मेरे मन बिथा बड़ी होती है। तुम जानो उसका ब्याह भी होगा। इसी से मैं इतना कहा करती हूं।'

मैंने कहा, 'ठीक तो है।'

और सोचा, लड़की को ब्याह देने के वक्त की व्यथा को इतने साल दूर से खींच लाकर अपने मन में आज ही प्रत्यक्ष अनुभव कर उठने वाला स्त्री-माता का ह्रदय कैसा है?

●

सवेरे-ही-सवेरे कोलाहल सुन पड़ा। जान पड़ता है, यह हो-हल्ला फिर नूनी को लेकर ही है। नूनी नहीं होती घर में, तब सब चुपचाप अपने-अपने में हो रहते हैं, मानो उन्हें अपने काम से और अपने निज से ही मतलब है; एक-दूसरे से कुछ मतलब शेष नहीं रह गया। नूनी न हो बीच में, तो हम दोनों तक को आपस में बात करने के लिए विषय का अभाव-सा लगता है। नूनी को लेकर आपस में बोल लेते हैं, झगड़ लेते हैं, मिल लेते हैं। इस तरह खाली-से हम नहीं रहते। दिन भरे-हुए-से बीत जाते हैं।

सुना—कहा जा रहा है, 'तो नहीं पिएगी, तू दूध?'

'नहीं पीते।'

'नहीं पीती?'

'हम नहीं पीएंगे!'

'देख लो, जीजी, यह तुम्हारी बेटीजी दूध पीती नहीं हैं।'

यह जोर से कहा गया।

और दूर चौके से नूनी की बुआ ने कहा, 'दूध पी ले बेटी। कैसी मेरी रानी बेटी है।'

रानी बेटी ने कहा, 'हमें रोज-रोज दूध अच्छा नहीं लगता।'

नूनी की मां ने कहा, 'रोज-रोज खेलना तो बड़ा अच्छा लगता है!'

बुआ ने चौके से आते हुए कहा, 'पी ले, बेटी, फिर खेलना।' और अपनी छोटी भौजाई को कहा, 'बच्चे को नेक प्यार से कहो, सब मान जाएगा।'

'प्यार से नहीं, मैं तो बड़े गुस्से से कहती हूं? लड़की इसी से तो मुंह चढ़ी है।'

बुआ ने कहा, 'पी, बेटा, पी!'

मैं अपने कमरे में बैठकर यह सुनने लगा। मेरी बहन चली गई और लड़की ने शायद दूध पीना आरंभ कर दिया।

इतने में नीचे से पड़ोसी के लड़के हरिया ने आवाज दी, 'नूनी ओ, नूनी!'

नूनी ने कहा, 'आई!'

नूनी की मां ने कहा, 'पहले दूध पी, (और कहा,) हरी, वह नहीं आएगी।'

हरिया ने जोर से कहा, 'नूनी, अरी आई नहीं!'

इतने में मैंने सुना, 'बच्चों को कड़ी ताकीद में रखने की उपयोगिता के संबंध में भाषण आरंभ हो गया है, जिसमें श्रोतावर्ग के केवल बालकों के पिता लोग ही जान पड़ते हैं। और मेज पर शायद एक बाल मूर्ति भी है, जिसको भली-भांति डांट-डपटकर और मार-पीटकर भाषण सामने-के-सामने, सोदाहरण परिपुष्ट किया जा रहा है।'

मैं समझ गया, नूनी अनुशासन की मर्यादा को, हरिया की बांसुरी की-सी आवाज पर, तोड़-ताड़कर अपने शिशु-अभिसार को संपन्न करने के लिए भाग छूटी है। और मैंने जान लिया, अपने विक्षोभ को खर्च करके स्वस्थ हो जाने के लिए, विवाद मोल लेने को मेरी पत्नी अब फिर बहन के पास पहुंच गई है। और जो वहां होना आरंभ हो गया, उसकी स्पष्ट ध्वनि भी मेरे कानों पर आकर थप्पड़ों-सी बजने लगी!

मैं उस ओर से उदासीन होकर बाहर छज्जे पर आ गया और गली देखने लगा।

नीचे देखता हूं, इस चौबीसों घंटे चलने वाली पत्थर की गली को तो ये बालक लोग भरा-समंदर बना बैठे हैं, और इस समंदर में अकेली खड़ी हुई नूनी नाम की मछली झुककर अपने टखने छूकर, कह रही है, 'इत्ता!'

पर, मुझे तो कुछ भी मालूम न था। मछली का नाम नूनी तो नहीं है, गोपीचंदर है। और हरिया के साथ पांच-सात जने मिलकर, किनारे खड़े-खड़े कह रहे हैं—

'गोपीचंदर, भरा समंदर।'

बोल मेरी मच्छी, 'कित्ता पानी ?...'

और गोपीचंदर जैसे सुंदर नाम वाली मीन अबके घुटनों तक ही झुक सकती है, क्योंकि समुद्र इस बीच घुटनों तक बढ़ आया है, और बतलाती है, 'इत्ता!'

समुद्र क्षण-क्षण बढ़ रहा है, और उस मछली के मन की चौकसी भी बढ़ रही है। वह देखो, जो अबके गाकर और चिल्लाकर पूछा गया है, 'कित्ता ?' तो वह दोनों हाथों को कटि पर रखकर, एक ठुमकी लगाकर बतला रही है, 'इत्ता।' हाय-हाय! देखो उस बेचारी की कटि तक समुद्र का पानी आ गया है। वह सिर तक डूबने को होती जा रही है।

और मुसाफिर भाई, तुम बेखटके इस गली में से निकलते चले जाओ। तुम्हारे लिए रोक-टोक नहीं है। पानी तुम्हें नहीं छुएगा। किनारे खड़े ये जो ऊधम करते हुए लड़के-लड़कियां हैं, सो ये सब शरारत करके समंदर पर हमला करने वाले हो रहे हैं, और गोपीचंदर नाम की अकेली मछली ही अपने राज्य की रक्षा करने के लिए कटिबद्ध हुई गली के बीच में खड़ी है। मुसाफिर, तुम झट से निकलते हुए चले जाओ, नहीं तो ये लोग समंदर में घुस पड़ेंगे, तब वह कुछ नहीं जानेगी, एकाध को जरूर पकड़ लेगी और तब उसे उसी की तरह गोपीचंदर नाम की मछली बनकर समंदर में रहकर पहरा देना होगा।

और उनको भी तो देखो। कैसे उल्लसित बाट देख रहे हैं कि पानी उस समंदर की रानी के कान तक आया नहीं कि वे हुकूमत की-सी धूमधाम अवज्ञा करके समंदर में घुस पड़ेंगे और जोर-शोर से मल-मलकर नहा डालेंगे।

पर, मत समझो, रानी चौकन्नी नहीं है। उसके राज्य में पैर रखकर देखो तो—वह एक-एक को ऐसा पकड़ती है कि—हां।

सबने पूछा, 'मच्छी-मच्छी, कित्ता पानी ?'

मच्छी रानी एकदम अपने दोनों तरफ देखती हुई सतर्क हो रही। वह सबको खूब अच्छी तरह ताड़ रही है—

उसने कान तक हाथ बढ़ाया, कहा, 'इत्ता!'

और सब धम्म-धम्म गली के पत्थर कूदकर बदन मलते हुए नहाने लगे। मच्छी रानी हंसती हुई इन चारों को पकड़ने के लिए दौड़ने लगी।

वह पास आती कि नहाने वाले उछलकर किनारे रहते। बेचारी मछली, पानी छोड़, किनारे की खुश्की पर कैसे पैर रख सकती!

पर, सामने को दौड़ने वाली होकर जो एकदम मुड़कर पीछे लपकी कि एक कुर्ते का छोर मुट्ठी में आ गया। रानी चिल्लाई—'पकड़ लिया' और हंसती हुई हांफने लगी।

श्री हरिश्चन्द्र इस चोर-कार्य में युक्त पकड़े हुए। और पकड़े जाकर वह भी निर्लज्ज हो हंसने लगे।

नौकर ने नूनी का हाथ पकड़कर कहा, 'चलो, बहूजी बुलाती हैं।'

नूनी ने हाथ छुड़ाकर कहा, 'नहीं जाते।'

नौकर ने छूटा हुआ हाथ जोर से पकड़ लिया।

वह मचल पड़ी, 'हम नहीं जाएंगे, नहीं जाएंगे।'

खेल भंग हो गया।

मैंने ऊपर से कहा, 'छोड़ दो।'

नौकर छोड़कर चला गया।

मैं अपनी मेज पर आ गया।

खेल फिर अवश्य आरंभ हो गया होगा।

बहूजी ने पूछा, 'कहां है ?'

नौकर ने कहा, 'आती नहीं।'

बहूजी ने कहा, 'इसलिए तुझे भेजा था ? कहे, आती नहीं ?'

नौकर, 'बाबूजी ने मना कर दिया।'

'कौन बाबूजी ?'

नौकर की कुछ आवाज न आई।

'बाबूजी कौन होते हैं!—तुझसे मैंने कहा था या और किसी ने कहा था ?—चल, ला उसे।'

नौकर बाहर आया और मैंने छज्जे पर पहुंचकर फिर कह दिया, 'रहने दो, छोड़ दो।'

लड़की सहमी और फिर खेलने लगी।

नौकर ने मेरी ओर देखा—'बाबूजी!'

मैंने कहा, 'तुम जाओ, कुछ बात नहीं।'

नौकर लौटकर आ गया। उसकी बात बहूजी ने चुपचाप सुन ली। कुछ भी उन्होंने नहीं कहा। उन्हीं कपड़ों बाहर आई, रोती-पीटती नूनी को खचेड़ती ले चली।

भीतर आकर बोली, 'तेरे बाबूजी अब आकर रोकें न मुझको!'

मैंने सुन लिया और मैं कमरे से निकलकर उनके सामने नहीं जा पहुंच सका। नूनी को एक कोठरी में मूंद दिया गया।

•

मूंद तो दिया गया, पर मूंदा रहने दिया जाता कैसे? क्योंकि मां ने बेटी को मूंदा था। और क्या मैं जानता नहीं कि इस बीच वह मां रो भी ली खूब? बहुत था, जी वह जाना था। लेकिन मैंने खाना न खाया और शाम को भी न खाया।

यह क्या गजब किया मैंने?

क्योंकि जब मैंने कहा, 'मैंने लड़की का एक घंटा पढ़ाने को लिया है। मेरी यही पढ़ाई है। अब तुम इसमें दखल देने नहीं पाओगी।' तब उसने आंसुओं से सब-कुछ, सब-कुछ स्वीकार कर लिया।

पर चौथे रोज वह मायके चल दी।

•

वह आ गई है, और मेरी बात सब झूठ मान लेती है।

पर हाल वही है। क्योंकि लड़की को पढ़ना है और पिटकर दुबली होगी, तो डॉक्टर है और डॉक्टर के लिए पैसा है—पर, लड़की को पढ़ना है।

मैं कहता हूं, 'अच्छा, बाबा।'

और अकेले में नूनी से मच्छी-मच्छी खेलना चाहता हूं और नूनी खेलती नहीं, मुझसे किताब के माने पूछती है। ❖

अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति का मन स्वस्थ रहता है। मन स्वस्थ रहता है, इसका अर्थ है कि शरीर भी स्वस्थ रहता है। शरीर स्वस्थ रहता है, इसका अर्थ है कि इंद्रियां निर्मल रहती हैं। बुद्धि भी निर्मल रहती है। इस प्रकार स्वास्थ्य और निर्मलता ये दोनों साधना के परिणाम हैं। ये परिणाम हैं किंतु मूलभूत प्रयोजन नहीं हैं। साधना का मूलभूत प्रयोजन है—सत्य का साक्षात्कार।

सत्य असीम है। हमारे इंद्रिय, मन और बुद्धि की शक्ति सीमित है। हम ससीम साधनों के द्वारा असीम का साक्षात्कार नहीं कर सकते।

इंद्रिय, मन और बुद्धि के ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा है। उसकी चैतन्य शक्ति असीम है। उसे अनावृत कर हम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं। ध्यान का स्थिर अभ्यास किए बिना हम आत्मा की चैतन्य शक्ति का प्रत्यक्ष उपयोग नहीं कर सकते। इंद्रिय, मन और बुद्धि का संबंध स्थूल जगत या स्थूल सत्य से होता है। उनमें सूक्ष्म सत्य तक पहुंचने की क्षमता नहीं है। ध्यान के द्वारा हम चेतना के सूक्ष्मस्तर तक चले जाते हैं। सूक्ष्म चैतन्य के द्वारा सूक्ष्म सत्य का प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार अतींद्रिय ज्ञान का विकास साधना का मुख्य प्रयोजन है।

अतींद्रिय ज्ञान व आत्म-साक्षात्कार में कोई भेद नहीं है। इसे आत्मोदय भी कहा जा सकता है।

—आचार्यश्री तुलसी

गिरधर राठी की कविताएं

•

उखड़ी हुई नींद

सच वह कम न था
नींद उखड़ी जिससे,
न ही यह कम है—
उखड़ी हुई नींद
जो अब सपना बुन नहीं सकती।

अंधेरे में
या रोशनी जला कर
जो भी अहसास है
सच वह भी कम नहीं

पर नींद वह क्या नींद
जो बुन न सके सपने
कैसी वह भाषा
जो कह न सके—
देखो!

•

स्वागत

वही—
जिसे भींच रहे हो मुट्ठी में
लेकिन जो टूट-बिखर जाता है बार-बार—
जीवन है।
कभी रेत और कभी बर्फ
कभी आंच और कभी सुरसुरी की तरह
अंगुलियों के बीच रिसता, फिसलता, उड़ता...

वह
जो इस किताब में बंद है
या उस गुरुमंत्र से फूट रहा है
या दौड़ रहा है पटरी पर

उसी का छूछा अवशेष है

वह जो मुट्ठी में आ गया है
उसी की याद है
जो भिंचता नहीं है मुट्ठी में।

•

अटकल

सब कुछ
अंत में खत्म होता है अटकलों में

तुम हवा के बहने का मकसद नहीं
जान सकते
न ही
अचानक उदास हो आने का

कोई फूल हमेशा वही वही रंग

क्यों ओढ़ता है?
खून
एकदम सफेद क्यों नहीं हो जाता?
खून
एकदम सफेद...
खून
....

•

मूर्ति

पहले उठाई गई मिट्टी
फिर दिया गया जल
फिर दी गई आग
फिर दी गई हवा
भर गया आकाश
आकाश तक

अब उस अचल के इर्द-गिर्द
देखी जाएगी गति
मढ़ी जाएंगी विस्मृतियां
साल-दर-साल...

•

बारिश

बारिश
जहां जोड़ती है
ठीक वहीं तोड़ती है
गुनगुनाती है
अपने-आप
लहराती
हहराती है
अपने-आप
चुप हो जाती है

बरसती रहती है अपने-आप

तुम्हें कुछ नहीं करने देती

❑

दीवार है
बारिश है
बनती और टूटती
टूट-टूट पड़ती
एकांत पर

एकांत
बारिश में (भी)
ढहता नहीं

शीलन

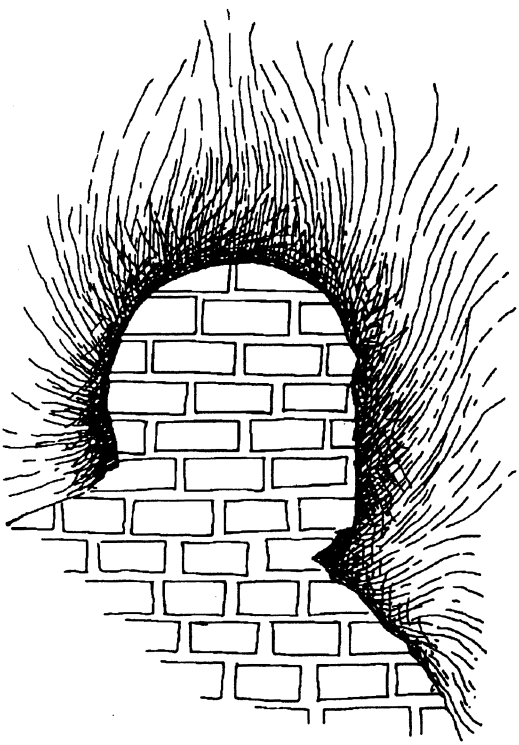

भारतीय दृष्टि से न अकेले प्रकृति या उसके ऊर्जा स्रोत, न अकेले मानव समाज मनुष्य की चिंता के एकांत विषय हो सकते हैं। बाह्य प्रकृति पर विजय की बात भी निरर्थक है, यदि उसके साथ अपनी प्रकृति पर विजय न हो। और सच पूछें तो विजय की बातें भी निरर्थक हैं, विजय केवल एक आलंकारिक शब्द है, बिंदु का सिंधु में मिलना और फिर सिंधु से बिंदु के रूप में उछल कर सिंधु को देखना, क्या बिंदु की विजयगाथा है या सिंधु की विजयगाथा है? जीतना-हारना तो आदिम संस्कारों से आए हुए शब्द हैं, असली बात है होना और होते रहने को सतत पहचानना। हम जो हैं, वह अपर्याप्त हैं, अधूरे हैं, हम सबके साथ ओत-प्रोत होकर सोचें, सांस लें, जिएं, भरपूर जिएं, रस लेकर जिएं, यह अनुभव करते हुए जिएं कि हम सबको रस देते हुए रस ले रहे हैं या हम स्वयं रस बनकर, स्वयं आस्वाद्य बनकर, स्वयं अन्न बनकर प्रस्तुत हो रहे हैं, न्यौत रहे हैं कि चर-अचर, स्थावर, जंगम, पृथ्वी, अंतरिक्ष, आकाश, ग्रह-नक्षत्र सभी हमारा रस लें।

—विद्यानिवास मिश्र

मनुष्य को संसार की बाह्य दौड़ उतना नहीं थकाती जितनी मन की अतृप्त दौड़, स्पर्धा, तनाव और बुद्धि की अनिश्चितता और अनिर्णय हैरान करते हैं, थका देते हैं। इसलिए विश्व के महान धर्मों ने, दार्शनिकों ने और संतों ने स्वानुभव से निश्चित, शांत, संयमित जीवन को संतोषपूर्ण कहा है।

सुख-दुख से इक परे परम पद

□ इन्दु टीकेकर □

जीवमात्र के सारे कार्यकलाप सुखपूर्वक, चैन से जीने के लिए होते हैं। निर्भय, आश्वस्त और निश्चिंत होकर जीने से तृप्ति का अनुभव आता है और संतुष्टि भाव का निर्माण होता है। सभी के लिए यह अपरिहार्य है कि जिंदा रहना है तो इंद्रिय-विषयों का सेवन करें। किंतु केवल इन्हीं विषयों में, बाह्य पदार्थों में रममाज होने पर, उन्हीं के चिंतन में खो जाने पर, अतिक्रमण तो अवश्य होता है, परंतु जागृतिपूर्वक होने वाली तुष्टि, पुष्टि और संतुष्टि भोग-लिप्सा में संभव नहीं है, यह मानव-जाति का अनुभव है। इसी परंपरा-ज्ञान के आधार पर भारतीय जीवनशास्त्र यानी धर्मशास्त्र और आरोग्यशास्त्र खड़े हैं। भोग में संयम हो, संतुलन हो और योग का अनुष्ठान हो तो शरीर-मन-बुद्धि के समाधान का फल सहज प्राप्त होता है। भोग का क्षणिक सुख समाधान की चोटी तक कभी पहुंचाने में समर्थ नहीं होता।

आज के विज्ञान और तकनीकी विकास के युग में भोग-वस्तुओं की भरमार है। आकर्षक आकार-प्रकारों की विपुलता है, व्यक्ति-विकास के अनेक मार्ग मन को प्रलोभित करने हेतु खुल गए हैं। ऐसी और इतनी संभावनाएं मानव-समाज ने इतिहास में पहले कभी देखी या सुनी नहीं होंगी। उपभोग की अमर्याद चकाचौंध मानव की कल्पना की अमीरी खूब दिखा जाती है, मात्र इसी से सामान्यजनों की आंखें चौंधिया गई हैं, उनकी निर्णय-शक्ति बौखला गई है और भीड़ के साथ ढकेला गया दीन मनुष्य पाता है कि उसके समझदारी के पैर ठोस धरती पर से उखड़ गए हैं। दैनंदिन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसे बड़े शहरों में धूल, धुआं और दुर्गंधभरी सड़कों पर भीड़ के साथ दौड़ लगानी पड़ती है। उसकी अवस्था कहानी के गधे जैसी हो गई है, जो हरी घास देखकर ललचाकर दौड़ता तो है, लेकिन उसका मुंह उस घास तक कभी पहुंचता ही नहीं। आज के स्पर्धाग्रस्त समाज में इंद्रिय-सुख का विचार भी मुश्किल है तो परम सुख और समाधान की बातें कितनी दूर की लगेंगी? मनुष्य होने के नाते हर व्यक्ति के चित्त में कभी न कभी एक टीस अवश्य उठती है—जीवन की तरफ, प्रकृति की तरफ स्वस्थ और स्थिर होकर नजर भी न डाल सके, सदा अनिश्चितता में चिंताग्रस्त ही रहना पड़े तो जीवन में क्या स्वारस्य है?

मनुष्य को संसार की बाह्य दौड़ उतना नहीं थकाती जितनी मन की अतृप्त दौड़, स्पर्धा, तनाव और बुद्धि की अनिश्चितता और अनिर्णय हैरान करते हैं, थका देते. हैं। इसलिए विश्व के महान धर्मों ने, दार्शनिकों ने और संतों ने स्वानुभव से निश्चित, शांत, संयमित जीवन को संतोषपूर्ण कहा है। वेद कहते हैं—शान्तोऽयमात्मा। इस्लाम का अर्थ ही है शांति। बाइबिल कहता है—जो तलवार से काम लेते हैं, वे तलवार से ही नष्ट हो जाते हैं। स्पर्धा और भोगलिप्सा में हिंसा की ही बू आती है, अशांत मानस की अस्वस्थता उसमें पनपती है। जैन और बौद्ध दर्शन तनाव और असंतोष को पुष्ट करने वाले स्पर्धात्मक जीवन का सहज ही निषेध करते आए हैं। जापान का जेन यानी ध्यानमार्ग कुछ भी करने को मनाही करता है, खेती तक को 'डू नथिंग एग्रिकल्चर' का आदर्श देता है। 'चाह' या 'तृष्णा' मानवी चित्त को सदा भटकाती है। मन को संपूर्ण समर्पण में संतोष है, सेवा के निष्काम कर्म में सार्थकता का भाव संतुष्टि का सह

शेष पृष्ठ 54 पर

आज की संस्कृति है—'मैं और मेरा परिवार'। वहां बालक अकेला अपने माता-पिता के पास रहता है। मां भी यदि कामकाजी महिला है तो उसे अपना समय पड़ोसी के घर में अथवा नौकरानी या झूलाघर में बिताना पड़ता है। संपन्न परिवार के बच्चे तो प्रायः आया के पास ही पलते हैं। संपन्न और कथित आधुनिकता में डूबी मांओं को तो 'ब्यूटी पार्लरों', 'क्लबों' और पार्टियों से ही फुर्सत नहीं। ऐसी स्थिति में बालक के संस्कारों की जमीन कैसे मजबूत हो सकती है?

युवा पीढ़ी : दशा-दिशा

□ साध्वी विमलप्रज्ञा □

आज की युवा पीढ़ी किस मोड़ पर खड़ी है—यह एक चिंतनीय बिंदु है। क्या संस्कारों की जमीन कमजोर बनती जा रही है? मानवीय मूल्यों का 'ग्राफ' क्यों तेजी के साथ नीचे गिर रहा है?

मनुष्य की जीवन यात्रा प्रकृति, संस्कृति और विकृति—इन तीन आयामों के बीच चलती है। अन्न जिस रूप में उत्पन्न होता है, वह प्रकृति का एक रूप है। अन्न को पकाकर छोंक आदि लगाना हम संस्कृति का एक रूप मान सकते हैं और अन्न का सड़ जाना विकृति का रूप कह सकते हैं। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य का अपने अस्तित्व में होना प्रकृति है, सद्संस्कारों से उसे विशिष्ट बनाना संस्कृति है और सांस्कृतिक मूल्यों का क्षरण विकृति है।

एक सुखी और संस्कारी परिवार का स्वरूप क्या है? सुखी परिवार वह है जहां प्यार और सौहार्द के मीठे बोल गूंजते हों। अनुशासन और विनम्रता सुखी परिवार की बुनियाद है। जहां सांत्वना और सहानुभूति, उत्साह और श्रम की प्राणवायु प्रवाहित हो रही हो, वही सुखी और संस्कारी परिवार है।

क्या आज के बदलते परिवेश में ये मूल्य मानक हैं? क्या आज की जीवनशैली को इन मापदंडों से मापा जा सकता है? आज की सोच है—'हम और हमारा सुख'। दूसरों से कोई लेना-देना नहीं है। इस एकांगीपन के चलते टूटते हुए परिवार संस्कारहीनता के ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

एक वृद्ध पिता महानगर में रहने वाले अपने बेटे-बहू के पास पहुंचा। रात्रि का समय था, पिता ने दरवाजा खटखटाया। पुत्र ने दरवाजा खोला। देखा, सामने पिता खड़े हैं। 'पिताजी! आप इस समय! पहले कोई सूचना भी नहीं दी?' 'हां बेटे! मैं किसी काम से आया था। रात हो गई। सोचा—अब रात को कहां जाऊंगा? चलो, बेटे से मिलना हो जाएगा। रात भी कट जाएगी। प्रातःक़ाल चला जाऊंगा।' 'पिताजी! आपको देखकर मुझे प्रसन्नता है लेकिन इस समय घर में आपकी व्यवस्था करने में, मैं असमर्थ हूं। अच्छा होता, आप किसी होटल में ठहर जाते।' वृद्ध पिता ने पुत्र पर एक दृष्टि डाली। तुरंत लौट पड़ा। जिस पुत्र को खून-पसीने की कमाई से पाला। जिसकी हर चाह को पूरा किया। आज उसी के घर में पिता के लिए कोई स्थान नहीं है। क्या यह सुखी और संस्कारी परिवार कहा जा सकता है?

आज पारस्परिक संबंध पारे की मानिंद बिखर रहे हैं। संबंधों में दूरियां बढ़ रही हैं। सवेदनाएं भोथरी हो रही हैं। पारिवारिक समरसता समाप्त हो रही है। एक समय था जब परिवार के प्रमुख व्यक्ति का आदरपूर्वक वर्चस्व पूरे परिवार पर रहता था। उसकी आज्ञा का सर्वत्र सम्मान होता था। पूरा परिवार एक डोर से बंधा रहता था। इन संस्कारों में इतना परिवर्तन कैसे हुआ? क्या यह प्रश्न हर माता-पिता के सामने है? अपनी संतान के बदले संस्कारों से क्या माता-पिता चिंतित हैं?

बचपन ही परिवार का मजबूत आधार हो सकता है। उस समय के सत्संस्कार ही परिवार की नींव को मजबूत बनाते हैं। अपसंस्कार परिवार को बिखेर देते हैं। आज भारतीय संस्कारों पर पश्चिम के संस्कारों की एक मोटी परत जमती जा रही है। क्या आज के माता-पिता इस ओर सचेष्ट हैं कि अंधी

भौतिकता और पश्चिमी संस्कृति की आग उनके बच्चों की कोमल भावनाओं को कहीं जला तो नहीं दे रही?

आज दूरदर्शन, सिनेमा, बाजारू पत्र-पत्रिकाएं संस्कारों की जड़ों में दीमक की तरह लगे हुए हैं और नींव को उखाड़ने में अहम भूमिका निभा रहे हैं। इनका सीधा असर बच्चों के दिल और दिमाग पर पड़ता है। इसीलिए आज के बच्चों के आदर्श—बेटमेन, हीमेन, सुपरमेन आदि हैं। उनसे वे सीखते हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, उद्दंडता और अनुशासनहीनता। भगवान महावीर, बुद्ध, गांधी, भिक्षु और तुलसी के विचार तो उनके लिए मात्र इतिहास की वस्तु बनकर रह गए हैं। जो विचार जीवन को अनुशासन, सत्यनिष्ठा, अहिंसा और विनय के संस्कारों से भावित करते हैं—वैसे कार्यक्रम इन माध्यमों में नगण्य हैं और जो थोड़े-कुछ प्रस्तुत होते हैं वे कृत्रिम अधिक व वास्तविक कम प्रतीत होते हैं। इसीलिए आज छोटे-छोटे बच्चों के लिए हिंसा करना, धोखा देना, बड़े से बड़ा झूठ बोलना सहज और सरल कार्य हो गया है।

समाचारपत्र में पढ़ने को मिलता है कि दो स्कूली बच्चों ने अपहरण की कहानी स्वयं ही रच ली। वे अपने माता-पिता से फिरौती की रकम वसूल करके दुनिया में घूमना चाहते थे और जब पकड़े गए तब पता चला, उन्होंने यह कला किसी फिल्म से सीखी।

प्रश्न उठता है बालक के इन संस्कारों का जिम्मेदार कौन है? बालक के इन अपसंस्कारों के लिए केवल संप्रेषण माध्यम ही दोषी नहीं ठहराए जा सकते। माता-पिता भी कम दोषी नहीं हैं। आज संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। संयुक्त परिवार संस्कारों के लिए एक पाठशाला रहे हैं। उनमें रहकर बालक पारस्परिक व्यवहारों से अनेक बातें सीख लेता है। अनुशासन, विनय, सौहार्द और सेवा के संस्कार उसे सहज रूप में प्राप्त हो जाते हैं। बिना किसी प्रयत्न के ये संस्कार उसके मन और मस्तिष्क में अपना स्थान बना लेते हैं।

लेकिन आज की संस्कृति है—'मैं और मेरा परिवार'। वहां बालक अकेला अपने माता-पिता के पास रहता है। मां भी यदि कामकाजी महिला है तो उसे अपना समय पड़ोसी के घर में अथवा नौकरानी या झूलाघर में बिताना पड़ता है। संपन्न परिवार के बच्चे तो प्रायः आया के पास ही पलते हैं। संपन्न और कथित आधुनिकता में डूबी मांओं को तो 'ब्यूटी पार्लरों', 'क्लबों' और पार्टियों से ही फुर्सत नहीं। ऐसी स्थिति में बालक के संस्कारों की जमीन कैसे मजबूत हो सकती है?

ऐसे संस्कारों में पलने वाले बालकों का भविष्य क्या होगा? उनकी जीवनशैली कैसी होगी? इसका कटु उत्तर है—दिशाहीन-दिग्भ्रमित युवाशक्ति। महानगरों से लेकर छोटे-छोटे गांवों में 15 से 25 वर्ष की अवस्था वाले किशोर और युवा नशे में धुत दिखाई देते हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति ने सांस्कृतिक मूल्यों की होली जला दी है, आज की पीढ़ी के मन और मस्तिष्क पर नएपन का भूत सवार है। उसी का परिणाम है—आज उसके रहन-सहन, आचरण और परिधान में फूहड़पनभरा अंतर दिखाई देना।

हमारी प्राचीन संस्कृति के नियामक थे—ऋषि-मुनि, चिंतनशील और गंभीर मनीषी, जिनके चिंतन की नींव पर ही मूल्यों का निर्धारण होता था। उनके चिंतन के पवित्र कण जीवन में पवित्र मूल्यों को प्रतिष्ठा देते थे। लेकिन आज की संस्कृति के नियामक हैं—'डिजाइनर', 'ब्यूटिशियन', 'एडवरटाइजर' आदि।

आज साज-सज्जा और वेश-भूषा के लिए करोड़ों का धंधा चलता है। युवा पीढ़ी उनकी दीवानी है। अंग-प्रदर्शन करने में मन में शर्म या लज्जा की अनुभूति नहीं है। वेश-भूषा का मनुष्य के शील, सदाचार के साथ गहरा संबंध है। आधुनिक परिधान ने जहां लड़के-लड़की के बीच की भेदरेखा को समाप्त किया है वहां विचारों में भी भारी परिवर्तन आया है। जीवन की पवित्रता विलासिता में बदल रही है। शरीरांगों को छूती हुई तंग पोशाक ने एक ओर जहां चर्म रोगों आदि बीमारियों को आमंत्रित किया है तो दूसरी ओर यौनाचार के लिए भी दरवाजा खोल दिया है।

अतृप्त आकांक्षाओं की पूर्ति के स्थान होते हैं रेस्टोरेंट, क्लब आदि, जहां खुलेआम शराब के दौर चलते हैं। देश की समृद्धि वहां लुटती है, जहां पैसों की कोई कीमत नहीं है। बिना किसी रुकावट के यौनाचार के ये उपयुक्त स्थल हैं।

दिशाहीन युवा पीढ़ी एक ऐसे चौराहे पर खड़ी है जहां चारों ओर अंधकार है, न उसके ऊंचे लक्ष्य हैं, न कोई आदर्श, न किसी मर्यादा की लक्ष्मणरेखा और न नीति-अनीतिभाव। कर्तव्य और अकर्तव्य की अनुभूति के लिए तो कोई स्थान ही अवशेष नहीं है। विलासिता, अतृप्त आकांक्षाओं की पूर्ति ही मात्र उद्देश्य है। अंततः इनके परिणाम होते हैं—दुख, घृणा और तनाव। क्या ऐसी युवा पीढ़ी से स्वस्थ परिवार और स्वस्थ समाज की रचना की जा सकती है?

आज यदि स्वस्थ समाज की रचना करनी है तो सबसे पहले परिवार को स्वस्थ बनाना होगा। स्वस्थ परिवार की रीढ़ संस्कारसंपन्न बचपन है। संस्कारी बालक ही देश का उज्ज्वल भविष्य हैं, परिवार का गौरव हैं। संस्कारों की आधारशिला है—1. संयुक्त परिवार, 2. दादी और नानी की सहज संस्कार-प्रेरक कहानियां, 3. संस्कारों को पुष्ट करने वाला साहित्य, 4. संयम की चेतना का विकास और 5. स्वयं माता-पिता की जीवनशैली। ❖

दो बालकथाएं

'इतने रुपए कहां से लाए?' और सीधा आरोप जड़ डाला—'क्या चोरी की है? नहीं तो इतने रुपए कहां से आते?' सुबोध स्वाभिमानी तो था ही, सहिष्णु भी था। उसने संयत स्वर में कहा—'सर! मैंने चोरी नहीं की। मैं चोर नहीं।' प्रधानाध्यापक का सवाल था—'तुमने चोरी नहीं की, इसका प्रमाण क्या है?'

पुरुषार्थ और पुण्यहीन

□ साध्वी शारदाश्री □

पुरुषार्थ

पांचवीं कक्षा का विद्यार्थी सुबोध अनाथ था। मां का साया जन्म के साथ ही उठ गया था और पिता भी मौत के मेहमान बन चुके थे। दर-दर की ठोकरें खाता हुआ वह अनाथ बच्चा जंगल के वृक्ष की भांति बढ़ रहा था। यह किसी की दया ही माननी चाहिए कि चार वर्ष की उम्र में उसे अनाथालय में पहुंचा दिया गया। चौथी कक्षा में आते-आते सुबोध को अपना बोध हुआ। उसने देखा कि मैं अनाथालय में रहता हूं और स्कूल में अनाथ बालक के नाम पर 'मेरी' फीस माफ की जाती है। उसका यही बोध उसे कचोटने लगा। उसके मन में आया—मेरी फीस माफ क्यों हो? क्यूं मुफ्त में अध्ययन करूं? उसके मन ने कहा—मैं सक्षम हूं। मेहनत-परिश्रम कर अपनी फीस जितना पैसा जुटा सकता हूं। तभी से वह प्रतिदिन सुबह-सायं एक गांव में जाने लगा और कुछ काम-धंधा कर लौट आता। अपनी पढ़ाई भी वह मन लगाकर करता। चौथी कक्षा का उसका परीक्षा परिणाम भी अच्छा आया। वह प्रथम रहा। स्कूल में वह एक अच्छे विद्यार्थी के रूप में जाना जाने लगा।

छुट्टियों के बाद जब फिर से स्कूल खुला तो वह अपनी फीस लेकर पहुंचा। उसके हाथ में रुपए देखकर सहपाठियों में एक हलचल हुई। इतने रुपए देखना उनके लिए एक प्रश्नचिह्न था। विद्यार्थी आपस में बात करने लगे और शक करने लगे कि सुबोध चोरी करता होगा! जरूर कहीं से चुरा कर पैसे ले आया है। सुबोध का रोजाना गांव जाना ही उनके संदेह का आधार था। यह बात केवल विद्यार्थियों तक ही नहीं, अपितु प्रधानाध्यापक के पास भी पहुंच गई।

प्रधानाध्यापक ने उसे बुलाया। उससे पूछा—'इतने रुपए कहां से लाए?' और सीधा आरोप जड़ डाला—'क्या चोरी की है? नहीं तो इतने रुपए कहां से आते?' सुबोध स्वाभिमानी तो था ही, सहिष्णु भी था। उसने संयत स्वर में कहा—'सर! मैंने चोरी नहीं की। मैं चोर नहीं।' प्रधानाध्यापक का सवाल था—'तुमने चोरी नहीं की, इसका प्रमाण क्या है?' सुबोध ने कहा—'सर! मैं नहीं समझ पा रहा कि आपको मुझ पर विश्वास क्यों नहीं है?' उसके स्वाभिमानी निर्मल मन पर आघात हुआ। उसने कहा—'आप देवाराम माली व ज्योति सिस्टर को बुलाकर पूछ लें।'

प्रधानाध्यापक ने चार विद्यार्थियों को भेजा और देवाराम माली व सिस्टर ज्योति को बुलाया।

थोड़ी देर में ही वे दोनों आ गए। आते ही प्रधानाध्यापक ने पूछा—'क्या आप इस बच्चे को जानते हो—यह कौन है?' माली ने कहा—'मैं यह नहीं जानता कि यह कौन है? पर यह अवश्य जानता हूं कि यह बच्चा सुबह-सुबह मेरे बगीचे में आता है और भरपूर काम करता है, मेहनत करता है। मुझे अच्छा सहयोग देता है। वृक्षों में पानी देना, क्यारियों को ठीक करना, बिखरे हुए पत्तों-फूलों

को एकत्र करना आदि कई कार्य करता है। मैं इसके बदले अपने बगान के कुछ फल और सब्जी इसे दे देता हूं और महीने में 15 रुपए भी नकद देता रहा हूं।'

सिस्टर से पूछने पर उसने बताया—'यह सायंकाल प्रतिदिन हमारे अस्पताल आता है। मेरे साथ मरीजों की देखभाल करता है। किसी को फल-सब्जी की जरूरत हो, लाकर दे देता है। किसी को दूध, किसी को दवा, किसी को कुछ। कमरों की सफाई भी कर देता है। पानी आदि की व्यवस्था भी कर देता है। मुझे तो इसका सहयोग मिलता ही है, मरीज भी इसके काम और व्यवहार से संतुष्ट रहते हैं। जिससे वे कुछ खाने के लिए व पहनने के लिए दे देते हैं और कुछ पैसा भी खुश होकर दे देते हैं।'

सिस्टर ज्योति और देवाराम की बातों से सब अवाक् रह गए। सुबोध पर हुए संदेह का निराकरण तो हो गया, पर उस पर किए शक से वे शर्मिंदा भी थे। उनके पास अब कुछ पूछने–कहने को न था। इस छोटी-सी उम्र में ऐसी मेहनत और बिना किसी की प्रेरणा से सुबोध अपने ही विचारों से ऐसा स्वावलंबी जीवन जीने को अग्रसर है, यह सबके लिए आश्चर्य व प्रेरणादायक था।

प्रधानाध्यापक ने कहा—'सुबोध! हमें तुम पर गर्व है।' फिर झेंपते हुए कहा—'आज से ही हम एक फंड बना देते हैं जिससे तुम्हारी फीस और अन्य खर्च निकल सकें।'

सुबोध ने विनम्र स्वरों में कहा—'नहीं सर, मुझे फंड नहीं चाहिए। मुझे आप ऐसा आशीर्वाद दें कि मैं परिश्रम करता रहूं। नेकी और ईमान पर चल कर अपनी मंजिल प्राप्त करूं।' ❖

पुण्यहीन

एक किसान बड़ा ही दरिद्र और पुण्यहीन था। एक बार खेती के लिए उसने अपने मित्र से बैल मांगे। खेत जोतने के बाद वह पुनः मित्र के घर बैल छोड़ने गया। उस समय मित्र खाना खा रहा था। उसने आंख से इशारा किया कि बैलों को नोहरे (बाड़े) में छोड़ दे। बैलों को वहां खड़ा कर वह पुनः अपने घर चला गया।

मित्र खाना खाकर जब नोहरे में गया तो देखा, वहां बैलों की जोड़ी नहीं है। वह सीधा मित्र के पास आया और अपने बैलों को मांगने लगा। किसान ने कहा—'मैं अभी तुम्हारे सामने ही तो तुम्हारे नोहरे में छोड़कर आया था।' उसने कहा—'वहां नहीं हैं। मैं अभी-अभी देखकर आ रहा हूं। तुमने मेरे साथ धोखा किया है। विश्वासघात करते हो, चलो न्यायालय। वहीं न्याय होगा।'

न्याय के लिए दोनों राजदरबार की ओर चल पड़े। रास्ते में सामने से एक घुड़सवार आ रहा था। घोड़ा अचानक बिदक गया, घुड़सवार नीचे गिर गया और घोड़ा भागने लगा। घुड़सवार ने आवाज लगाई—'अरे इसे रोको।'

पुण्यहीन किसान ने सोचा—'बेचारा यह घोड़े के पीछे कहां तक भागेगा?' उसने डंडा उठाया और भागते हुए घोड़े की पीठ पर दे मारा। मार घोड़े के ऐसे मर्मस्थल पर लगी कि वह वहीं धड़ाम से गिर गया और मर गया।

घुड़सवार नजदीक आ पहुंचा, देखा कि घोड़ा तो मर गया। वह तैश में आया और पुण्यहीन से झगड़ा करने लगा। उस बेचारे ने कहा—'मेरा क्या दोष है? आपने ही कहा था इसे रोक दो। मैंने तो डंडा-भर मारा और यह मर गया। इसका मैं क्या करूं?'

घुड़सवार ने धमकी देते हुए कहा—'चलो राजा के पास, तुम्हें दंड दिलाऊंगा।' साथ वाले मित्र ने कहा—'हम वहीं जा रहे हैं।' अब तीनों साथ हो गए और चले न्याय मांगने के लिए। वहां पहुंचते-पहुंचते रात हो गई। शहर का दरवाजा बंद हो गया। तीनों वृक्ष के नीचे सुस्ताने लगे। नींद आ गई। पुण्यहीन अपने भाग्य को कोसता हुआ सोचने लगा—'मैंने कौन-से पापकर्म किए जो यह सब भुगतना पड़ रहा है। जो भी अच्छा कार्य करना चाहता हूं, वह मेरे लिए बुरा हो जाता है। अच्छा हो, मैं फांसी लगाकर मर ही जाऊं!'

उसने देखा, पास ही एक बड़ा वृक्ष है। वह वहां गया। एक साड़ी का कपड़ा भी उसे मिल गया। उसे उठाया और फांसी लगाकर मरने के लिए पेड़ पर चढ़ गया। ज्योंही फंदा डालकर लटकने लगा कि कपड़ा फट गया और वह धड़ाम से नीचे गिर गया। नीचे नटों का मुखिया सोया हुआ था। वह उस पर जोर से गिरा और

वह मुखिया उसी समय दुर्भाग्य से मर गया। रात्रि के नीरव वातावरण में जोर से किसी के गिर पड़ने की और चिल्लाने की आवाज सुनकर अन्य नट जो इधर-उधर सोए हुए थे, जग गए। वे भागकर वहीं आ गए। हालात देख नटों को ऐसा गुस्सा आया कि वे उस बेचारे को मारने लगे। उसने कहा—'मुझे ऐसे मत मारो, पहले मेरी बात सुनो।' उसने सारी हकीकत बताई। सबने कहा—'चलो राजाजी के पास, वहीं हमारा न्याय होगा।'

प्रातः होते-होते इतने नट, वह मित्र और घुड़सवार पुण्यहीन किसान को लेकर राजदरबार पहुंचे। सबने न्याय की मांग की। राजा ने पूरी जानकारी ली। कैसे-कब, कहां, क्या घटित हुआ? उसके पश्चात् सबसे पहले राजा ने मित्र से पूछा—'तुमने बैलों को अपनी आंखों से देखा था।' उसने कहा—'हां, मैं खाना खा रहा था, उस समय यह लेकर आया था।' राजा ने अनुभव किया, यह पुण्यहीन बेचारा ऐसी धोखाधड़ी नहीं कर सकता। उन्होंने न्याय देते हुए कहा—'तुम अपनी आंख दे दो तो यह तुम्हें बैल दे देगा।' मित्र कुछ बोल न सका। अपना-सा मुंह लेकर चलता बना।

घुड़सवार से पूछा—'तुमने कहा था कि घोड़े को रोको।' उसने कहा—'हां।' तब राजा ने कहा—'तुम अपनी जिह्वा इसे दे दो, यह तुम्हें घोड़ा दे देगा।' उसे भी न्याय मिल गया। वह भी वहां से अपना-सा मुंह लेकर चलता बना।

अब बारी आई नटों की। राजा ने नटों से पूछा—'तुमने अपना मुखिया चुन लिया है क्या?' सबने एक स्वर से स्वीकार किया—'हां, हमने अपना अस्थाई मुखिया चुन लिया है।' राजा ने कहा—'उस मुखिया को कहो, वह उसी पेड़ पर चढ़ जाए। फांसी लगाकर लटके। यह वहीं नीचे सो जाएगा। फिर जो होना होगा वह हो जाएगा।' ऐसा होना असंभव था। इसलिए सारे नट भी चले गए।

इस तरह सबको न्याय मिल गया। पुण्यहीन किसान भी अपने भाग्य पर भरोसा कर राज-दरबार से चल पड़ा। ❖

सुख-दुख से इक....पृष्ठ 49 का शेष

लेकर ही प्रज्ञा का शिखर चढ़ता है और स्थिर प्रज्ञा की नजर में द्वैत तिरोहित होता है। एकात्मता में स्पर्धा, तुलना विलीन होते हैं, संतोष अंकुरित होता है। सम्यक् तोष यानी परिपूर्ण तुष्टि व्यक्तित्व के किसी भी अंग को अस्वस्थ, रोगी या अधूरेपन के भाव से व्याकुल नहीं होने देती। संतोष का यह परम सुख हर मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। सुख-दुख देने वाले बाह्य विषयों पर संतोष और चित्त-शांति निर्भर नहीं हैं। इसलिए कबीर गाते हैं—'सुख-दुख से इक परे परम पद ताहि में रहैं समाई!'

गीता ने वचन दिया है—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद् धामं परमं मम।

क्षणिक सुखों का पहाड़ खड़ा करने वाली बाहरी संपदा सुख के उस परम पद की झांकी नहीं दिखा सकती, वह चित्त की कंगाली ही प्रकट करती है।

आचार्य विनोबा की मां ने बचपन में उनसे कहा था, 'थोडयात गोडी, फारात लबाडी।' थोड़े में मिठास है, संयम में संतोष है, अतिलोभ में अधिक के पीछे भागने में ठगाई है, झूठ है। और ठगाई में चिंता के सिवा, अशांति के सिवा दूसरा है ही क्या? टॉलस्टॉय की एक अमर कहानी गांधी जी और विनोबा जी को इसीलिए बहुत भाती थी। एक जमींदार पति-पत्नी के जीवन में नसीब के फेर से दारिद्र्य आता है और उनको दूसरों के खेत में मजदूरी करनी पड़ती है। रोज पसीना बहाकर, थककर नमक-रोटी जुटाते थे वे दोनों। एक दिन बिस्तर पर लेटते-लेटते किसान ने कहा, 'आजकल हम कितने निश्चिंत हैं, कितने सुखी हैं, कमाओ, खाओ और सो जाओ।' पत्नी ने कहा, 'सचमुच! जमीन थी, बड़ा घर था, गहने थे, तब कितनी चिंता, कितनी व्यस्तता थी, आज के सुख और शांति पहले कहां नसीब होते थे!'

इसलिए समाज-व्यवस्था ही ऐसी होनी चाहिए जिसमें जीवन-यापन के लिए नित्य दौड़ लगानी न पड़े। कर्मनिष्ठा तो सभी में हो, आलस कहीं न हो, श्रम का सम्मान हो किंतु चित्त संतुलित, बुद्धि सदा जागृत, निश्चित निर्णय करने वाली, तटस्थ और वृत्ति चिंता-शून्य, निर्मल, निर्भय रहकर शांति-संतोष का अवसर देने वाली हो। मानव-जीवन के इन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर उद्योग-खेती, विज्ञान-तकनीक, शिक्षा और राजनीति आयोजित कर सकेंगे तो इंद्रिय-सुखों के पीछे भाग चली आज की मानवी दौड़ परम सुख के पथ पर संतोषपूर्वक शांत चरण आगे बढ़ाएगी। उसी में सार्थकता है। ❖

जैन भारती पाठक पहेली

जैन भारती के प्रति बढ़ती अभिरुचि को देखते हुए मार्च अंक से 'जैन भारती पाठक पहेली' शुरू की गई है। हमें आशा है, पाठकगण इसमें दिलचस्पी लेंगे और पाठकीय अभिरुचि का विकास करेंगे।—सं.

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के नवम्बर, 2000 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के नवम्बर अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 3 मार्च, 2001 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम अप्रैल, 2001 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

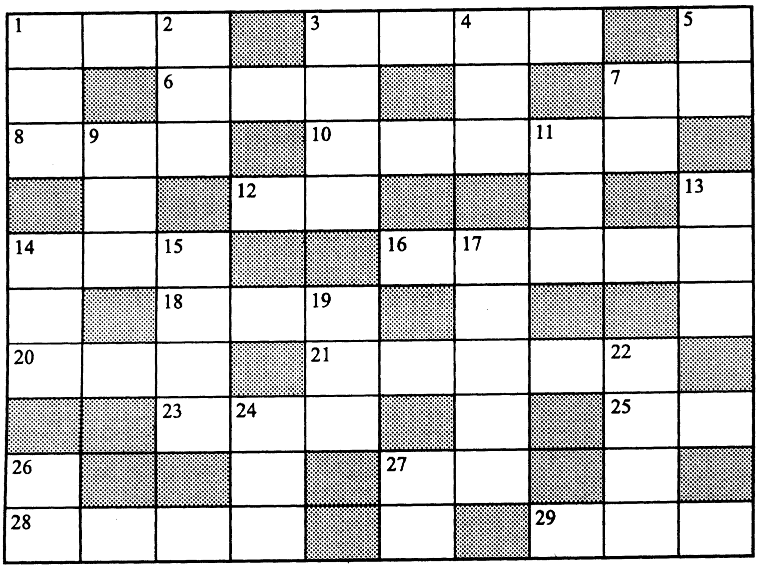

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली-0012

नाम प्रतियोगी.. उम्र...........

पूरा पता...

....

....

बाएं से दाएं

1. साधु ने उससे.......और यज्ञादि कराए [3]
3. सेक्युलरिज्म,.......मनुवाद, माइनॉरिटीवाद [4]
6. ....योग : भोजन के बाद सौ कदम चलें [3]
7. ....'पढ़े-लिखे' इसका क्या जवाब देंगे ? [2]
8. वे बड़े उत्साह में.......आते हैं। [3]
10. वह काला वेश.......काली घोड़ी पर बैठ पिता का देश छोड़कर निकल गया [5]
12. 'रावण' के.......को बढ़ने से रोका जा सकता है [2]
14. इससे धर्म के प्रति.......जागरूकता बनी रहती है [3]
16. यह परंपरा किसी समाज के इतिहास में सतत.......नहीं रहती [5]
18. घी और शहद, दूध और.......या नमकीन [3]
20. किंतु गर्मी में.......चीजें वर्जित हैं [3]
21. मनुष्य की.......उपलब्धि मानने वाली सभ्यता को गांधीजी ने चेताया था [5]
23. पीठ पीछे इनकी.......करते हुए मैंने उन्हें अपनी आंखों से देखा है ! [3]
25. यही उसका.......है [2]
27. एक.......आ रही थी [2]
28. नियति को संभवतः यही.......फहराना था [4]
29. गंगा के दहाने में.......की बात भी कही थी [3]

ऊपर से नीचे

1. चेतन द्रव्यों के.....चलन को देखकर व्यक्ति कुछ जान लेता है [3]
2. मेरे गांव में किसी पुराने.......के अवशेष मिल जाते तो उसका क्या इतिहास है [3]
3. पहाड़, पर्वत, नगर.......वृक्ष, जंगल [4]
4. ....चालक अधिकांशतः रात्रि में शराब आदि [3]
5. रसायन की क्षमता.......हो जाती है ! [2]
7. इसलिए पापों से बचकर ही.......कार्य करना चाहिए [2]
9. चित्त आध्यात्मिक.......में खिंच जाता है। [3]
11. किसी ओर से भी.......आती थी [3]
13. साधना और एकाग्र.......की इसमें आवश्यकता है [3]
14. तत्काल उंगली-निर्देश कर उसे.......कर दिया [3]
15. परंतु सेठ साहब का पुत्र लखमीचन्द इस आंदोलन का....... से पक्षपाती था [2,2]
17. जिसने समाज में बुराई के पलड़े को.......बनाया है [5]
19. उनका जोश देखकर मन का.......खिल उठता था [3]
22. उन्हें क्या.......शिकार से ? [4]
24. वह हिंसा की दिशा में.......रखता है। [3]
26. चारों को.......देकर अंतर्धान हो गया [2]
27. उपवास.......में सामान्यतः किसी भी प्रकार की ओषधि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। [2]

जैन भारती पाठक पहेली - 0010

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 अ	नु	2 मा	3 न		4 उ		5 मं	6 ज	री
व		7 न	ज	रं	दा	ज		न	
8 स	रो	व	र		य		9 स	म	ता
र		ता		10 अ	न	व	र	त	
	11 क्ष						का		12 अ
13 स	मा	14 स		15 ब		16 क	र	17 व	ट
र		18 मा	प	न		ह		19 च	ल
20 स	21 ह	ज		क		22 क	थ	न	
	ज		23 ह	र	24 बा	र			25 व्र
26 डा	म	र			लू		27 अ	ती	त

प्रथम चयनित विजेता—मीनू बोथरा, बीकानेर

अन्य दस चयनित विजेता

1. सन्तोष दूगड़, लाडनूं
2. हंसा तलाटी, उज्जैन
3. बबीता मेहता, बैंगलौर
4. अरविन्द सेठिया, कोप्पल
5. मोतीलाल जीतमल बाफना, पदराड़ा
6. विमलादेवी बैद, नोखा
7. भीखमचन्द सेठिया, भीनासर
8. लता संजय सेठिया, औरंगाबाद
9. सुभाष जैन, टोहाना
10. कल्पना चौपड़ा, गंगावती

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

With best compliments from :

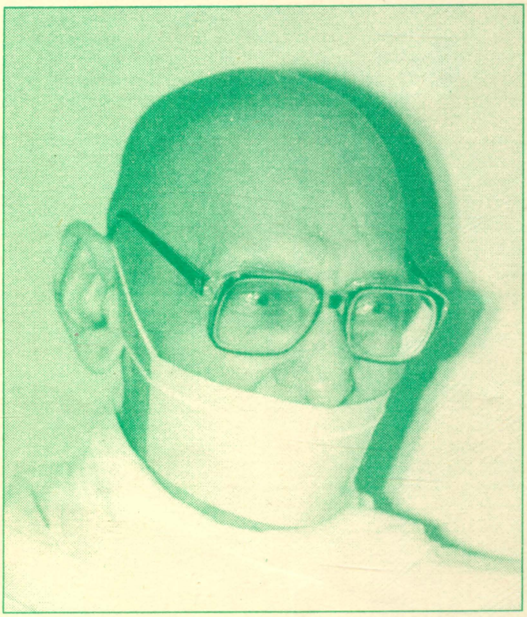

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT – SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

•

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

जैन भारती, फरवरी, 2001 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर / 11/48/2000

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Conditon Monitoring systems of SKF**. The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

Bearing is not our only business.

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Calcutta 700 001, Ph- 220-1926/ 0640, Fax- 2485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।